श्री महेन्द्र पुस्तकमाला—पुष्प २२

विवेकी विभीषण

लेखक
श्री सुदर्शन सिंह जी

श्रीमान् नरमेन्द्र महाराज श्री महेन्द्र सिंह जूदेव
नागौद नरेश के शुभ दान से प्रकाशित

प्रथमावृत्ति]   [**मूल्य** ।।)

प्रकाशक—
मंत्री, मानस-संघ
रामवन वाया सतना

मानस–मणि

रामायण-सम्बन्धी एक ही मासिक पत्र है। पाँच वर्ष से निकल रहा है। संघ इसे रामायण-प्रचार के निमित्त प्रकाशित करता है, वार्षिक मूल्य केवल २) है। इसके ग्राहक बनकर रामायण का रहस्य समझिए और संघ को उन्नतिशील बनाने में सहयोग दीजिए।

—मन्त्री, मानस संघ

मुद्रक—
माधो प्रिंटिंग वर्क्स
इलाहाबाद

परिचय

'कपिपति रीछ-निसाचर-राजा।
अंगदादि जे कीस समाजा॥
बन्दौं सब के चरन सुहाये।
अधम सरीर राम जिन्ह पाये॥'

वे समदर्शी विद्या, बुद्धि, आचार या कुल कहाँ देखते हैं। 'रामहिं केवल प्रेम पियारा' सो उनके दरबार में तो महारानी भक्ति का आज्ञापत्र चाहिये। जिस पर उन भावनामयी की कृपा हो वही वहां आदर पाता है। 'अधम सरीर' हो गया तो क्या हुआ। शरीर तो सभी के पांच भौतिक ही होते हैं। सभी शरीरों में वही अस्थि, मेद, मज्जा, मांस तथा रक्त-चर्मादि अशुद्ध द्रव्य हैं। यों कहना चाहिये कि शरीर तो सभी अधम हैं।

इस अधम शरीर को प्राप्त कर जिन्होंने श्रीराम को प्राप्त कर लिया, वे धन्य हैं। उनके चरण—शरीर का सब से निम्न स्थान भी 'सुहाये' हैं। उनके शरीर के पवित्र होने की तो चर्चा व्यर्थ ही है, उनके चरण भी पवित्र हैं। जिन्होंने इस अधम शरीर को पाकर प्रभु को प्राप्त नहीं किया उसी का शरीर अधम रह जाता है।

शरीर तो यों ही अधम होता है, उसमें भी बन्दर, रीछ एवं निशाचरों का शरीर तो शास्त्र गर्हित योनि में उत्पन्न है। वहाँ उस शरीर में भी जिन्होंने भगवान् श्रीराम को प्राप्त कर लिया, उनके चरण भी पवित्र हो गये। उनके श्री चरणों की हम बंदना करते हैं।

'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' उन लीलामय का तो स्वभाव ही सदा से ऐसा रहा है। अतएव वे यदि भावमय, प्रेमप्राण विभीषण जी पर संतुष्ट ही हो गये तो क्या अद्भुत बात हुई। भक्त श्रेष्ठ लंकेश के पावनपदों में अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाते हुये हम उन भक्तवत्सल की कृपाकोर की अभिलाषा करते हैं।

× × ×

कैकय(काकेशस) प्रदेश में महाराज सत्यकेतु राज्य किया करते थे। यह बात त्रेता के प्रारम्भ काल की है। उनके दो पुत्र हुये, प्रतापभानु तथा अरिमर्दन। महाराज ने ज्येष्ठपुत्र प्रताप-भानु को राज्यासीन किया एवं स्वतः उपराम होकर तपोवन पधारे। प्रतापभानु बड़े धार्मिक थे एवं प्रजा के शुभेच्छु थे।

'नृप हित कारक सचिव सयाना।
नाम धरम रुचि सुक्र समाना॥'

महाराज प्रताभानु ने दिग्विजय की ठानी। सबल हितैषी भाई एवं बुद्धिमान् मंत्री पास थे ही। स्वयं महाराज अद्वितीय धनुर्धर थे। उन्होंने सभी नरेशों को पराजित करके अश्वमेध यज्ञ किया।

भाग्य किसी का साथी नहीं। एक पराजित नरेश जो साधु वेश में बदला लेने का अवसर देखता हुआ वन में आश्रम बना-कर रहता था, उसने शिकार को निकलकर साथियों से पृथक् हुये एवं भ्रांत लहाराजको चकमे में ले लिया। महाराज साधु समझ कर उसका विश्वास कर गये। फिर क्या षटयंत्र सफल हो गया। उसके कहने से महाराज ने एक लक्ष विप्र भोजनार्थ आमंत्रित किये। सूपकार उसी नरेश का एक मित्र एक असुर था जो राजा के पुरोहित के वेश में था। विप्रों के भोजनार्थ बैठते ही आकाश

वाणी हो गई 'रसोई में विप्र मांस है।' क्रुद्ध ब्राह्मणों ने एक वर्ष के भीतर महाराज के सकुल नाट होकर राक्षस होने का शाप तुरन्त ही दे डाला।

पश्चाताप व्यर्थ गया। भेद खुलजाने पर भी ब्रह्मशाप मिथ्या तो हो नहीं सकता था। उस कपट तापस ने सभी पराजित नरेशों को समाचार भेज दिये। कैकय पर सबने साथ ही आक्रमण किया। महाराज तथा उनके सैनिक हताश तथा शाप शंकित थे। शत्रुओं में उत्साह था। खूब डटकर महीनों युद्ध चला। कैकय का बच्चा बच्चा जूझ गया। किसी ने पैर पीछे नहीं दिये। क्या लाभ ? देश (कैकय) की क्षत्रिय जाति एवं कुशल महाराज रणभूमि में सो गये। स्त्रियों के अतिरिक्त कोई भी नहीं बचा और वे भी पीछे सती हो गईं। कुछ गर्भवती स्त्रियां रह गई हों तो कहा नहीं जा सकता।

× × ×

लोक पितामह ब्रह्माजी के मानसपुत्र महर्षि पुलस्त्य के पुत्र श्री विश्रवा मंदराचल पर तपस्या कर रहे थे। तपःप्रांत अत्यन्त रमणीक था। उसके प्राकृतिक सौंदर्य से आकर्षित होकर गन्धर्व कन्यायें प्रायः वहाँ क्रीड़ार्थ आती थीं। उनके गान वाद्य एवं नृत्य से तपस्या में विघ्न पड़ता देख विश्रवा ने शाप दे दिया कि यहाँ आनेवाली स्त्री गर्भवती हो जायगी। शाप से डरकर वहाँ आना गंधर्व बालाओं ने छोड़ दिया।

संयोगवश एक दिन उधर से दो गन्धर्व कुमारियाँ निकलीं। वन में पहुँचते ही उनकी अपनी दशा में परिवर्तन हो गया। विश्रवा के शाप के प्रभाव से वे उनके द्वारा सगर्भा हो गईं। इनमें से एक तो डरकर भाग गई और दूसरी ने महर्षि से बहुत

अनुनय विनय की। शाप मिथ्या तो हो नहीं सकता था। ऋषि ने उसे सद्गुणी पुत्र होने का वरदान दिया।

इन दो गन्धर्व बालाओं में पहिली निकषा थी। उसने रावण एवं कुम्भकर्ण को जन्म दिया। दूसरी के उदर से भक्तवर विभीषण की उत्पत्ति हुई। हमें खेद है कि हम उन परम भक्त की प्रातः स्मरणीया माता का नाम उपलब्ध नहीं कर सके।

'सचिव जो रहा धरम रुचि जासू।
भयउ बिमात्र बन्धु लघु तासू॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना।
बिष्नु भगत बिज्ञान निधाना॥'

पूर्व जन्म के प्रतापभानु तो रावण होगये, अरिमर्दन हुये कुम्भकर्ण और धर्मरुचि मंत्री विभीषण के रूप में जगत में आये। इस प्रकार कैकय नरेश का पूरा कुल एवं परिजन राक्षस वंश में जन्म लेने के लिये विप्रों के शाप के कारण विवश हुये।

× × ×

प्रभु की लीला। राक्षस जन्मजात सिद्ध होते हैं। वे जन्मते ही दीर्घकाय हो जाते है और सोचने-समझने लगते हैं। उनकी माता को लालन पालन नहीं करना पड़ता। ये तीनों भाई भी जन्म लेते ही अपनी वंश परंपरा के अनुसार पुष्ट एवं वर्धितकाय हो गये। शक्ति के उपार्जन के लिये उनको तपस्या करना ठीक लगा और तीनों तपोवन चले गये।

जिसमें शारीरिक शक्ति अधिक होती है, उसमें मनोबल भी प्रकाण्ड होता है। असुरों ने अपने उग्र तप से सदा ही ऋषि-मुनियों को पीछे छोड़ा है। तीनों भाइयों ने अनेक प्रकार की उग्र तपस्यायें प्रारम्भ कीं। अन्ततः उनकी तपस्या ने हंस बाहन को

अपना कमलासन छोड़ने को विवश किया। पितामह उस तपोवन में पधारे। उन्होंने रावण को मनुष्य एवं बन्दरों को छोड़ शेष सभी से अवध्यता का वरदान दिया। कुम्भकर्ण ने उन्हीं की प्रेरणा से ६ महीने लगातार सोते रहने की याचना की।

'गये बिभीषण पास प्रभु, कहेउ पुत्र वर मागु।
तेहि मांगेउ भगवन्त पद, कमल अमल अनुरागु॥'

याचना ही करनी तो छोटी मोटी क्यों की जावे। विभीषण ने जो सर्वोपरि वरदान हो सकता था, उसे ही मांगा। वे विष्णु भगत। तो थे ही लेकिन यह देख रहे थे कि भाई हरि द्रोही हैं। कुल और भी तामस हैं। रहना इन्हीं तामस लोगों के साथ है। कहीं संग दोष से बुद्धि मलिन न हो जावे। अतएव उन्होंने अमल अनुराग वरण किया।

स्रष्टा से वर प्राप्त कर तीनों अपने मातृ सदन को लौट आये। तब तक वे गन्धर्व लोक में ही रहते थे। रावण को वहां रहते समय ही त्रिकोट स्थित लंकापुरी का पता लगा। उस समय वहां कुबेर के सेवक रहा करते थे। समुद्र परिवेष्टित वह स्वर्णपुरी किसी को भी मुग्ध कर सकती थी। राक्षस राज ने उस पर आक्रमण करके यक्षों को मार भगाया और पुरी को राजधानी बना लिया।

रावण के साथ विभीषण भी लंका में आये। उसने उन्हें रहने के लिये एक सुन्दर भवन दे दिया। सभी नैकषेय कुटुम्ब लंका वासी बन गये। वहां सभी प्रकार की सुख-सुविधा थी। शत्रुओं का वहां पहुंचना सर्वथा असम्भव था।

दैत्येश्वर मयने अपनी परम सुन्दरी सुलक्षणा कन्या मन्दोदरी के साथ रावण का विवाह कर दिया। अपनी शादी के पश्चात दशानन को दोनों भाइयों के विवाह की सूझी। यह

उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं थी। कुम्भकर्ण एवं विभीषण उसकी इच्छा से परिणीत हो गये। सुन्दरी सुशीला भार्या शरमा को प्राप्त कर विभीषण का गार्हस्थ्य बड़े आनन्द पूर्वक चलने लगा। उन्हें उनके अनुरूप ही सात्विक गुणों से सम्पन्न पत्नी प्राप्त हुई थी।

\+ \+ \+

एक झांकी द्वापर को देखते चलिये। उस समय विभीषण लंकापति थे। श्री द्वारिकाधीशने भीमसेन को लंका भेजा लंकेशको महाभारत के संग्राम में पाण्डवों की ओर से आमन्त्रित करने। विभीषण ने कह दिया यह तुम लोगों का घरेलू झगड़ा है। आपस में निबट लो।' उन्हें द्वापर के मानवों का आकार एवं शक्ति क्षुद्र लगी। अहंकार हो गया।

गर्वहारी भक्तों का गर्व नहीं रहने देते। युद्ध चल रहा था। भीम दबादब हाथियों को पछाड़ रहे थे मोर मुकुटी ने लल. कारा 'भीमसेन, दस बीस हाथी दक्षिण लंका पर भी।' लंकापर हाथियों की वर्षासी होने लगी। दूर से आने के कारण वेग तीव्र था। मकान गिरने लगे। राक्षस मरने लगे। लंकेश की बुद्धि ठिकाने आगई। मन ही मन प्रभु का स्मरण कर के क्षमा मांगी! गज वृष्टि बन्द हो गई।

रहन सहन

यह सिद्धान्त तो नहीं किया जा सकता कि मनुष्य का बाह्याचार उसके हृदय के अनुरूप होता है और न यही बात है कि हार्दिक भावों को बाह्य रहन सहन में आने से रोका नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसे लोगों का अभाव नहीं जो बाह्य कुछ एवं अन्तः कुछ रखते हैं। ऐसे भी सफल आडम्बरी होते हैं कि उनके बाह्यरूप में उनकी वास्तविकता तनिक भी प्रकट नहीं होती। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि प्रत्यक्षतः मनुष्य का जो रहन सहन होता है, समाज में उसके अनुरूप अपने को चलाने वाला दिखाने को बाध्य रहता है। फिर उसका आभ्यन्तर कुछ भी हो और लोगों की दृष्टि से बचकर कुछ भी क्यों न करता हो।

जो सीधे साधे सरल व्यक्ति हैं, उनका वाह्य अन्तर के तुल्य होता है। वे छिपाने की कला जानते नहीं। इसकी आवश्यकता भी उन्हें नहीं होती। साथ ही अपने भावों के समान रहन सहन वाले व्यक्ति की ओर मनुष्य का सहज ही आकर्षण होता है।

'भवन एक पुनि दीख सुहावा।
हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा॥'

श्री राम दूत लंका में पहुँच कर रात्रि में महारानी जानकी की खोज कर रहे थे। उन्होंने प्रायः सभी घरों को देख लिया था। अन्त में उनकी दृष्टि एक ऐसे गृह पर गई जिसके भीतर पृथक भगवान् विष्णु का मन्दिर बना हुआ था। रावण शैव था। वह भी

साधारण शैव नहीं, परम शिवभक्त। अतएव यह शक्य नहीं कि लंका में शिव मन्दिर न मिले हों। मदिरा-मांस उपासकों के बीच में शक्तिमन्दिर तो मिले ही होंगे। लेकिन राजस तामस प्रकृति के राक्षसों के घरों में मन्दिर बनाने की आवश्यकता नहीं थी। सार्वजनिक मन्दिर में ही वे पूजा कर लेते थे। विभीषण के घर में प्रथक मन्दिर था। मन्दिर के ऊपर त्रिशूल के स्थान में चक्र होने से दूर से ही ज्ञात होता था कि वह शैव नहीं, वैष्णव मन्दिर है।

प्रत्येक सद्गृहस्थ का जो तनिक भी भगवान् एवं धर्म में रुचि रखता होगा, उसका यह कर्तव्य होता है कि अपने रहने के मकान का एक कमरा या कोना उपासना स्थान बना दे। वहाँ चित्र या मूर्ति स्थापित कर दे। नियमित रूप से वहाँ पूजा अर्चा हो। इससे घर के लोगों में सात्विकता बढ़ेगी और बालकों में सात्विक संस्कार पड़ेंगे। दक्षिण एवं मध्यभारत के प्रत्येक मकान में एक पूजागृह मन्दिर नुमा द्वारयुक्त पाया जाता है। मकान बनवाते समय तो पूजागृह बनाने का ध्यान प्रत्येक धार्मिक रुचि के व्यक्ति को रखना ही चाहिये।

उस समय प्रत्येक भवन में पूजागृह अवश्य रहा करता था। उसी प्रथा का अवशेष दक्षिणी भारत के अभी पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक के बने मकानों में पाया जाता है। विभीषण अन्ततः राजबन्धु थे। अपने भवन के कोने में उपासना गृह का कमरा वे क्यों बनाते? भवन में एक ओर पृथक उन्होंने मन्दिर ही बनवा लिया था।

'रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृन्द तहँ, देखि हरष कपिराइ॥'

अकेला मंदिर ही होता तो समझ लेते कि जब लंका कुबेर के अनुचरों के हाथ में थी, तब किसी वैष्णव यक्ष ने यह मन्दिर बनवाया होगा। लेकिन मुख्य भवन द्वार के एक ओर धनुष एवं दूसरी ओर बाण का सुन्दर चिह्न अंकित था और वह पुराना भी नहीं जान पड़ता था।

पूरा भवन ही उस वैष्णव यक्ष का हो। मंदिर एवं रामायुध उसी की कृति हों। इस शंका के लिए अवसर 'नव तुलसिका वृन्द' नहीं देता था। तुलसी के समूह थे लगाये हुये। पौधे पुराने नहीं थे। बिना देख भाल के भी नहीं पड़े थे। नवीन पौधे थे। अच्छी सेवा के कारण उनमें नवीन दल लहलहा रहे थे। भली प्रकार सजाये से लगते थे वे।

बड़ी प्रसन्नता हुई हनुमान जी को। नियम है कि जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी। जहाँ बैष्णव मन्दिर है, द्वार पर रामायुध अंकित हैं, तुलसी का नव कानन है, वहाँ अवश्य कोई वैष्णव भी होगा। इस घोर स्थान में वैष्णव के मिलने की आशा से प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। इस प्रसन्नता का अनुभव वही कर सकते हैं जो प्रवास में किसी ऐसे प्रान्त में पहुँच गये हों, जहाँ उनकी भाषा समझने वाला कोई न हो और फिर दो चार दिन पश्चात् कोई स्वभाषा भाषी अचानक मिल जावे।

'लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥'

श्री हनुमान जी विचार करने लगे लंका में तो सब राक्षस रहते हैं। यहां कोई सत्पुरुष कहाँ से आ गया। ये राक्षस उसे रहने भी कैसे देते हैं। यदि सोचें कि कोई पाखण्डी राक्षस ही इसमें रहता होगा तो पाखण्ड तो लोगों को प्रभावित करने के लिये होता है। ये राक्षस तो हरिद्रोही होने के कारण इन

उपकरणों से उलटे चिढ़ेंगे। उन्हें प्रभावित करने के लिये तो महाशैव बनना ठीक होता। सर्वथा विपरीत ढंग है। तब क्या रावण ने जान बूझ कर यह जाल लुक छिप कर लंका में प्रविष्ट हुये वैष्णवों को पहिचानने को रचा है। वंदीगृह में पड़े ऋषि मुनि एवं देवताओं को तो असुरेश्वर ने उपासना की सुविधा नहीं दी है और वे यहां कभी कभी पूजा करने आते हैं।

'मन महुँ तरक करइ कपिलागा। तेहीं समय विभीषनु जागा॥'

अनेक प्रकार के विचार उठ रहे थे। हनुमानजी कुछ भी स्थिर नहीं करपाते थे। वे वहीं खड़े खड़े सोच रहे थे। सम्पूर्ण लंका देख ही चुके थे। इस गृह को देखकर यह विचार भी मन में उठ रहा था कि 'कहीं दशानन ने श्री जनक नन्दिनी को प्रसन्न रखने के लिये यह गृह तो नहीं बनवाया है और वे इसीमें हैं।' पता नहीं क्यों उस मकानमें गुप्तरूपसे जैसे लंका के सारे गृहोंमें हो आये थे, प्रवेश करने में हिचक रहे थे। ब्रह्ममूहूर्त हो चुका था। विभीषण नियमानुसार उसी समय जागृत होगये।

'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥'

उठते ही विभीषण ने 'राम राम' कह कर प्रभु का स्मरण किया। हनुमान जी को विश्वास होगया कि वे कोई सत्पुरुष हैं। आडम्बर दूसरों के सम्मुख किया जाता है। एकान्त में नहीं किया जाता। घोर निद्रा में मनुष्य के सभी संस्कार सुप्त रहते हैं निद्रा भंग होते ही प्रथम संस्कार वही उठेंगे जो प्रबल होंगे॥ प्रभु के भक्त ही उठते उठते उनका नाम ले सकते हैं। यह नामोच्चारण चिरकाल तक किये गये अभ्यास की अपेक्षा रखता है। छींक आते, जम्भाई लेते, चोट लगने पर, चौंकने पर आहत होने पर, या निद्रा से तुरन्त उठने पर अचानक भगवन्नाम बिना

पूर्वकालिक अभ्यास के नहीं आ सकता। जिसने ऐसा अभ्यास किया हो, उसके सज्जन होने में क्या सन्देह। हनुमान जी का निश्चय दृढ़ होगया।

'एहिसन हठ करिहौं पहिचानी। साधुते होइ न कारज हानी ॥
बिप्र रूप धरि बचन सुनाये। सुनत बिभीषन उठि तहँ आये॥
करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥'

श्री महाबीर जी ने निश्चय कर लिया कि 'इससे जान पहिचान कर लेना चाहिये। साधु से कार्य हानि नहीं होती। यह ठीक है कि मनुष्य का अपने देश, नरेश एवं समाज के प्रति कुछ कर्तव्य भी होता है और यह भी असम्भव नहीं कि यह कोई रावण का कृपापात्र अथवा अधिकारी हो और तब उसके कर्तव्य और भी कठोर हो जाते हैं। एक सज्जन अपने आश्रयदाता को धोखा नहीं दे सकता। फिर भी जो साधु है, वह किसी के भी परस्त्री हरण का समर्थक नहीं हो सकता, चाहे वह उसका स्वामी ही क्यों न हो। वह एक सती साध्वी के परित्राण में बाधा भी नहीं देगा।' इस प्रकार विभीषण से कार्य हानि की कोई सम्भावना दिखाई नहीं पड़ी।

वैष्णव साधु ब्राह्मणों का स्वभावत: सम्मान करने वाले होते हैं। हनुमान जी ने इसी से ब्राह्मण का स्वरूप बनाकर द्वार पर से 'जय श्री सीताराम' की आवाज लगाई। विभीषण के कानों में शब्द पड़तेही वे जैसे थे, वैसेही उठकर द्वार पर पहुंचे। उन्होंने ब्राह्मण को प्रणाम करके कुशल प्रश्न किया, साथही उनके आगमन का प्रयोजन भी पूछ लिया।

नियम तो यह है कि अतिथि को अभिवादन करके, उसको अर्घ-पाद्य दिया जावे। जब वह आसन ग्रहण करले, तब भोजन की प्रार्थना कीजाय। उसके भोजनादि से निवृत्त होकर आराम

से लेट जाने पर कुशल प्रश्न तथा आने का प्रयोजन पूछा जावे। विभीषण जी ने द्वार पर ही प्रणाम करके लट्ठमार सा पूछ दिया 'आप यहां कैसे पधारे ?'

परिस्थति प्रधान होती है। लंका में कोई सामान्य विप्र आ नहीं सकता। सौ योजन समुद्र पार करके, नगर रक्षकों की दृष्टि बचाकर यहांतक पहुँचने वाला न तो साधारण विप्र होगा और न उसका साधारण कार्य होगा। ब्राह्ममुहूर्त हो गया है। थोड़ी देर में प्रकाश होजायगा। राक्षसों के जागृत होने पर दिन में विप्र को छिपाना होगा। अभी ही अन्धेरे में उसका कोई कार्य हो तो उसके होने की सम्भावना है। एक क्षण का भी विलम्ब ठीक नहीं। विभीषणजी ने समयोचित कार्य किया। वे स्वागत सत्कार में उलझाकर ब्राह्मण को संकट में नहीं डालना चाहते थे।

'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी।जिमि दसनन महुँ जीभ बिचारी॥'

विभीषण का बाह्य रहन सहन तो आपने देख लिया। लंका में उनकी क्या स्थिति है 'जैसे दांतों में जीभ' सबके सब कठोर हैं। उनका काम ही काटना कुचलना है। तनिक चूके कि शामत आई। फिर भी जितना होसके उनके बीच से अधकटे, अधकुचलों को खींच लेना। सरस, कोमल जिह्वा की वृत्ति है लंका में। सदा सशंक एवं सावधान रहना पड़ता है।

दांतों में रहकर भी उनकी कठोरता जिह्वा को स्पर्श नहीं करती। वह उनसे सदा अलिप्त रहती है। उनके कठोर कृत्यों से तटस्थ। लंका में भक्तवर भी इसी प्रकार निशाचरों की क्रूरता से अलिप्त अपनी भावभरी कोमलता लिये रहते हैं। यह ऐसी निर्लिप्तता है, जिस पर एक बार प्रभुको भी आश्चर्य करना पड़ा।

नीति-निधान

नीतिमत्ता उसे कहते हैं जो अशक्य को भी शक्य बना देती है। जो कार्य श्रम एवं व्ययसाध्य होता है, वह उपयुक्त नीति के कारण अत्यन्त सुलभ हो जाता है। कुशल नीतिज्ञ शत्रुओं से उनकी इच्छा के विरुद्ध अपना कार्य करा लिया करताहै। वह अवसर को पहचानता है।

'सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन।आये ॥
नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिय दूता ॥
आन दंड कछु करिय गुसाईं। सब ही कहा मंत्र भल भाई ॥'

विभीषन को यह तो पता लग ही गया था कि मेघनाद ने नाग पाश से श्री हनुमान जी को बांध लिया है और लेकर राजसभा में गया है। क्योंकि अशोक बाटिका का ध्वन्स एवं अक्षय कुमार का वध साधारण घटना नहीं थीं। कपि की चर्चा सब कहीं चल रही थी और उसके पकड़े जाने का समाचार भी तुरंत फैल गया था। 'कपि बन्धन सुनि निसिचर धाये' देखने वाले दौड़े आरहे थे। रावण की प्रकृति का विभीषण को पता था। वे हनुमान जी से परिचित भी हो चुके थे। अतएव अपने मंत्रियों को साथ लेकर सभा सदन में पहुँचे। पता नहीं कब कैसी परिस्थित आपड़े। पहुँचते ही उन्होंने सुना कि रावण राक्षसों को हनुमान जी के बध की आज्ञा दे रहा है। राक्षस दौड़ भी पड़े। संकेत से उनको रोककर विभीषण दशाननके समीप पहुँचे।

प्रणाम किया। बड़े भाई एवं नरेश के नाते यह तो करणीय था। मस्तक झुकाकर प्रार्थना की बहुत सी—खूब लम्बी। प्रार्थना का अर्थ था। आगे के प्रस्ताव की स्वीकृति को भूमि प्रस्तुत करना। प्रार्थना में क्या होगा ? महाराज बड़े तेजस्वी एवं विश्व विजयी हैं। सीधा अर्थ है कि फिर आप एक बन्दर को छोड़ देने में भय की आशंका करें, यह ठीक नहीं। 'राक्षसेश्वर सदा न्याय पक्ष पसन्द करते हैं। उनकी कीति अपार है।' मतलब यह कि फिर दूत को मारकर अन्याय का कलंक लेना क्या ठीक होगा। इसी प्रकारकी बहुत सी बिनय सुनाकर रावण एवं सभा को उन्होंने अनुकूल बनाया।

'नीति विरोध न मारिय दूता।' इसके बाद प्रस्ताव हुआ। दूत का तो कर्तव्य ही ज्यों का त्यों कहना एवं अपने स्वामी की प्रशंसा करता तथा उसका लाभ चाहना है। दूत अवध्य होता है। यह बन्दर बड़ा उत्पाती है घोर अपराध भी किये हैं। जो कुछ भी हो, है दूत। इसे मार देने से तो भीरुता ही प्रकट होगी। इसके स्वामी को कुछ पता तक न चलेगा।

'आन दंड कछु करिय, जानते थे कि राक्षस कभी भी अछूत छोड़ने को प्रस्तुत न होंगे। रावण भी पुत्र वध के कारण जला बैठा है। अछूता छोड़ने के प्रस्ताव का यह अर्थ होगा कि सभी उसका विरोध करेंगे और बध की आज्ञा बनी रहेगी। अतएव विभीषण ने आज्ञा में संशोधन उपस्थित किया। 'इसने महान अपराध किये हैं, अतः दण्डनीय है। लेकिन यह दूत है, अतएव अवध्य है। इसे प्राणदण्ड देना उचित नहीं। कोई भी दूसरा दण्ड इसे देना चाहिये।'

नीति सफल हुई। सबने एक स्वर से विभीषण का समर्थन कर दिया। रावण ने देखा कि सभा विभीषण से सहमत होगई

है। वह सबका विरोध करना नहीं चाहता था अपने को दुराग्रही दिखलाना उसे स्वीकार नहीं था। अतएव नीति का उत्तर उसने भी नीति से दिया। कोई दूसरा दण्ड तो प्रस्तावित ही था। उसने पूंछ में अग्नि लगाने की आज्ञा दे दी। उसे प्राणदण्ड अभीष्ट था। उसने सोचा था 'बन्दर अग्नि लगने पर उछल कूद करके शरीर के बालों में स्वयं अग्नि लगा लेगा और जल मरेगा।' कुछ भी हो, विभीषण ने उसे एक बार आज्ञा बदलने को अपनी नीति द्वारा बाध्य किया।

× × ×

'अवसर जानि विभिषनु आवा। भ्राता चरन सीसु तेहिं नावा॥
पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥
जौं कृपालु पूँछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥
जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुखनाना॥
सो परनारि-लिलारु गोसाईं। तजौ चौथि के चंद कि नाईं॥
चौदह भुवन एकपति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥
गुन सागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहैं न कोऊ॥'

नीति है कि राजा के समीप सदा नहीं रहना चाहिये। पता नहीं कब वे रुष्ट हो जावें। समय अनुकूल देख कर ही उनके समीप जाना चाहिये। विभीषणने समझ लिया कि यह समय रावण का राजसभा में बैठने एवं मन्त्रियों से सलाह करने का है, उसी समय वे वहाँ पहुँचे। लंकेश को प्रणाम किया। फिर मस्तक झुकाकर वे अपने आसन पर बैठ गये। महाराज के भाई होने के कारण राजसभा में उनके लिये विशेष आसन निश्चित रहता था। दुबारा मस्तक झुकाना एक प्रकार का संकेत था कि प्रस्तुत प्रसंग पर उन्हें भी कुछ कहना है।

श्री राघवेन्द्र अपनी विशाल वानरी सेना के साथ समुद्र के दूसरे किनारे आगये हैं, यह सम्वाद लंका में पहुंच चुका था और रावण अग्रिम कर्तव्य के सम्बन्ध में मन्त्रण करने बैठा था। विभीषण के मस्तक झुकाने का तात्पर्य समझ कर उनसे भी उसने सलाह मांगी। आज्ञा पाकर वे बोले 'आप कृपालु हैं। अन्यथा यह सलाह देने का गौरव मुझे क्यों देते। अतः मैं अपनी बुद्धि के अनुसार आपकी भलाई की बात कहूँगा।' 'मति अनुसार' अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ, उसमें भ्रान्ति हो सकती है। 'हित' लेकिन कहता मैं भलाई की बात हूं। कोई भी दूसरा उद्देश उसमें अन्तर्हित नहीं है।'

जो अपना कुशल चाहे, उसे पर स्त्री का मुख कदापि नहीं देखना चाहिये। इस प्रसंग में विभीषण ने काम को कुशल,सुयश सुमति एवं सुखों का बधाक बतलाया है और यह नीति शास्त्रानुमोदित है।' तब लगि कुशल न जीव कहं, सपनेहु मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम पद सोक धाम तजि काम।'इस प्रकार काम त्याग बिना कुशल नहीं। 'अकलंकता कि कामी लहई।' मैं सुयश भी कामी से दूर है। 'जिमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज बल बुधि लवलेसा।' जब बुद्धि ही नहीं रहती तो सुबुद्धि कहां से होगी। 'त्रिविधं नरक स्येदं द्वारंनाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभ...।' सुगति की कल्पना ही समाप्त हो गई।' 'काम अछत सुख सपनेहुं नाहीं।' काम के रहते सुखों की चर्चा भी व्यर्थ है।

यदि कोई चौदहो भुवनों का एक छत्र सम्राट् हो तो भी प्राणियोंसे द्रोह करके बच नहीं सकता। यह दूसरा नीति वाक्य है। इसमें कहा गया कि रावण तो एक भुवन का भी सार्वभौम सम्राट् नहीं। उसमें भी बालि, अयोध्या नरेश प्रभृति उससे बीस

पड़ते हैं। फिर प्राणिद्रोह करके उसे बचने की आशा नहीं करना चाहिये। सम्राट् पद तो बहुत तुच्छ है—ब्रह्मज्ञान तक दोनों की उपेक्षा मात्र से नष्ट हो जाता है। द्रोह करने पर तो पता नहीं क्या होगा।

'ब्राह्मणः समदृक् शान्तः दीनानां समुपेक्षकः।
च्यवते ब्रह्म तस्यापि भिन्न भाण्डात्पयो यथा॥'

—श्री मद्‌भागवत

ये पारलौकिक हानियां हुई। परलोक में अविश्वास भी किया जावे तो लोक की तो उपेक्षा नहीं की जासकती। गुणज्ञ एवं चतुर पुरुष तुच्छ लोभ को अच्छा नहीं बतलाते। एक स्त्री के लिये लंका को युद्ध की विभीषिका में डाल देना तुच्छ लोभ एवं अनुचित है।' कितनी सम्पूर्ण नीति कही है विभीषण ने।

× × ×

'मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं तुम सन कही, पाइ सुअवसर तात।'

'यह बात मेरी नहीं है। आपके पितामह महर्षि पुलस्त्य ने इसे अपने शिष्य से कहला भेजा है।' विभीषण ने उपयुक्त अवसर पर प्रमाण उद्धृत किया था।

'माल्यवन्त अति सचिव सयाना।
तासु बचन सुनि अति सुख माना॥
तात अनुज तव नीति विभूषन।
सो उर धरहु जो कहत विभीषण॥'

'तिज्ञ अपनी सफल एवं पुष्ट नीति के कारण विरोधियों में भी समर्थन प्राप्त ही कर लेता है।

'माल्यवंत गृह गयउ बहोरी।
कहइ विभीषन पुनि कर जोरी॥
सुमति कुमति सब के उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥
तव उर कुमति बसी विपरीता।
हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥
काल राति निसिचर कुल केरी।
तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥
तात चरन गहि मांगौं, राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार।
बुध पुरान स्रुति संमत बानी।
कही बिभीषन नीति बखानी॥'

अब मैं क्या कहूं। भगवान् शंकर ने ही विभीषण की नीति की प्रशंसा कर दी 'बुध, पुरान, स्रुति सम्मत।' इससे अधिक प्रकाण्ड नीतिज्ञ मिलेगा भी कहाँ। सिद्धान्त उपस्थित कर दिये गये हैं। रावण जैसा वेद भाष्यकार विद्वान् भी इन युक्तियों का खंडन नहीं कर सका। उसे भी कटूक्ति एवं पाद-प्रहार से अपनी बौद्धिक पराजय की झेंप मिटानी पड़ी।

'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।
सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा।
अनुज गहे पद बारहिं बारा॥
उमा सन्त कै इहइ बड़ाई।
मन्द करत जो करइ भलाई॥

तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।
राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥'

प्रहार को सहकर भी उपकार करना संत स्वभाव तो है ही, उस समय शांत रहना नीतिज्ञता भी थी। रोष उलटा फल दिखलाता। प्रतिकार की कोई भी शक्ति विभीषण के पास थी नहीं।

'सचिव संग लै नभ पथ गयऊ।
सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ॥
राम सत्य'संकल्प प्रभु, सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि॥
अस कहि चला बिभीषन जबहीं।
आयू हीन भये सब तबहीं॥
साधु अवज्ञा तुरत भवानी।
कर कल्यान अखिल कै हानी॥
रावन जबहिं बिभीषनु त्यागा।
भयउ बिभव बिनु तबहि अभागा॥

शत्रु को पराजित करने के लिये उसके साहस को तोड़ देना आधा संग्राम जीत लेना है। विभीषण ने 'सभा काल बस' के द्वारा उसे सम्पन्न कर दिया। उनकी नीति सफल हुई। साहस हीन राक्षस 'आयुहीन' बन गये और इस प्रकार अभागे रावण का वैभव नष्ट हो गया।

स +　　　+　　　+

'कह लंकेस सुनहु रघुनायक।
कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥
जद्यपि तदपि नीति अस गाई।
विनय करिअ सागर सन जाई॥

प्रभु तुम्हार कुल गुरुजलधि, कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल भालुकपि धारि॥'

प्रभु ने पूछा तो सुग्रीव एवं विभीषण दोनों से, परन्तु सुग्रीव मौन ही रहे। विभीषण के आने पर उन्होंने जो बांध रखने की सलाह दी थी, उसमें वे विफल हुये थे और विभीषण को देख कर व अनुभव कर रहे थे कि उनकी सलाह सचमुच भ्रान्त थी। इस बार उन्होंने चुप रहना ही ठीक समझा।

विभीषण कह रहे हैं कि 'प्रभो, आपका बाण करोड़ों समुद्रों को शुष्क बना सकता है। इस जरासे जलधि की क्या चिन्ता। लेकिन नीति ऐसी है कि गुरु जनों पर सहसा बल प्रयोग नहीं करना चाहिये। यह सागर सगर पुत्रों द्वारा खोदा गया है। अतएव उनका पुत्र हुआ। इस नाते यह आपके कुल में बहुत पहिले का पूर्वज है। इस पर बल प्रयोग ठीक नहीं। आप प्रार्थना करें। अपने कुलावतंसकी प्रार्थना से अपनी कुलवधू के उद्धारार्थ वह कोई ऐसी युक्ति सोचकर कहेगा, जिसमें समस्त' भालु कपि बिना श्रम उसे पार कर सकेंगे।

'सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
करिअ दइउ जौं होइ सहाई॥'

प्रभु जानते हैं कि जड़ जलधि सीधी प्रार्थना से मानने वाला नहीं है। उन्होंने 'दइउजौ होइ सहाई' में अपने सन्देह को स्पष्ट कर दिया है। फिर भी बिभीषणकीनीतिमत्ता उन्होंनेनीकि उपाई' कह कर स्वीकार की और अनुज के विरोध करने पर भी ती[illegible] दिन तक उस पर चलते रहे। अन्त में जब रोष करके वे शर[illegible] सन्धान करने लगे,तब भी उन्होंने इस नीतिकी भर्त्सना करने के बदले उसे सुन्दर ही बतलाया। 'सहज कृपन सन सुन्दर नीती।' अवश्य ही समुद्र उस नीति के अयोग्य सिद्ध हो चुका था।

'बेगि बिभीषन तिन्हहिं सिखायो।
तिन्ह बहुबिधि मज्जन करवायो॥'

संग्राम समाप्त हो गया। बिभीषण आज लंकापति हैं। सब से पहिले उनका ध्यान श्री जनक नन्दिनी जी की ओर गया। प्रभु ने उन्हें बुलाया है। इसी रूप में उन्हें भेजना तो अशिष्टता है। उन नीतिज्ञने सेविकाओं को सिखलाकर उनको स्नान कराया। स्वयं सम्मुख नहीं गये नीति के अनुसार पर स्त्री के सम्मुख उसके पति की अनुपस्थिति में नहीं जाना चाहिये। दूसरे वे लंका में अभी भी तो बन्दिनी हैं। किस प्रकार उनके सम्मुख उपस्थित हों। लंकेश के रूप में जाने पर तो एक क्षण भी बन्दिनी रखने के वे अपराधी होंगे। त्राता बनने का अधिकार उन्हें क्या है। त्राण तो प्रभु ने किया है। विभीषण का स्वयं न उपस्थित होना बहुत ही नीति पूर्ण रहा है।

× × ×

"करि बिनती जब संभु सिधाये। तब प्रभु निकट बिभीषन आये॥
नाइ चरन सिर कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु साँरग पानी॥
सकुल सदल प्रभु रावन मार्‌यो। पावन जसु त्रिभुवन बिस्तार्‌यो॥
दीन मलीन हीन मति जाती। मोपर कृपा कीन्हि बहु भांती।
अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै। मज्जन करिअ समर-स्रम छीजै॥
देखि कोस मन्दिर सम्पदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहं मुदा॥
सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ।'

देवताओं की स्तुति के समाप्त होते ही विभीषण ने सम्मुख हो श्री चरणों में मस्तक झुका दिया। यहां रण भूमि में जो रक्तपात हो रही थी, प्रभु का रहना थोड़ी देर भी उन्हें ठीक नहीं लग रहा था। उन्हों ने बतलाया कि 'अब रावण के कुल

या दल में कोई भी शेष नहीं। आपने मुझ पर कृपा की। लंका प्रवेश में कोई आशंका नहीं। आप श्रमित हैं, शिरः स्नान आवश्यक है। कोष, भवन तथा सब सम्पत्ति ज्यों की त्यों है, मैंने अभी देखा तक नहीं है। प्रभु चलकर उसे सम्हालें देखें। अन्ततः वह विजित द्रव्य विजयी का है। सभी भालु-कपियों ने श्रम किया है। उन्हें पुरस्कार दें। 'मुद्रा' पुरस्कार दें मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। तनिक भी संकोच न करें।' इस प्रकार युद्ध के पश्चात विजित सम्पत्ति के सम्बन्ध में जो नीति है, उसका पूर्ण पालन उन्होंने किया। साथ ही बड़े कौशल से प्रस्ताव कर दिया, मुझे साथ लेकर अयोध्या पधारें।'

'बहुरि बिभीषण भवन सिधाये।
मनिगन बसन बिमान भराये॥
लै पुष्पक प्रभु आगे राखा।
हँसि करि कृपा सिन्धु अस भाखा॥
चढ़ि बिमान सुनु सखा बिभीषन।
गगन जाइ बरषहु पट-भूषन॥
नभ पर जाइ बिभीषन तब ही।
बरषि दिये मनि अंबर सबहीं॥'

प्रभु ने कोई भेंट नहीं ली, लेकिन यह कैसे उचित होता। भारी एवं स्थायी वस्तुओं की भेंट व्यर्थ होती। वस्त्र आवश्यक थे। युद्ध में सब के वस्त्र फट गये तथा रक्त से भीग गये थे। बहु मूल्य एवं हलकी भेंट मणियों की ही दी जा सकती थी। विभीषण ने वही सर्वाधिक बहुमूल्य उपहार देकर अपनी नीति चातुरी का परिचय दिया।

भावमय

भावुक भक्तों का भाव कभी भी प्रच्छन्न नहीं रहा करता। वे चाहते तो बहुत हैं कि अपने को छिपाये रखें, परन्तु हीरा कहीं गुदड़ी में छिप सकता है। तनिक सा भी संकेत पाते ही वह उमड़ पड़ता है। आनन्द का वह अपार श्रोत भीतर दब नहीं पाता।

'की तुम्ह हरिदासन महँ कोई।
मोरे हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह राम दीन अनुरागी।
आएहु मोहि करन बड़भागी॥'

एक नियम है 'सर्वांहि सन्देह पदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तय:।' सन्दिग्ध विषयों में निर्मल बुद्धि सज्जनोंके लिये अन्तः प्रवृत्ति ही प्रमाण है। यह नियम सर्वसाधारण के लिये नहीं है। क्यों कि मलिन बुद्धि का निर्णय भ्रान्त हुआ करता है। बिभीषण प्रभु भक्त स्वच्छ हृदय थे। विप्र रूप में हनुमान जी को देख कर उनमें प्रेम उमड़ पड़ा। उन्होंने पूछा 'आप कोई प्रभु भक्त हैं या स्वयं दीन दयालु श्री राम हैं मेरे हृदय में आप के प्रति जो प्रेम उत्थित हुआ है, वह मेरे आराध्य या उनके निजी भक्तों के अतिरिक्त और कहीं नहीं हो सकता। अतः आप अपना परिचय दें।'

श्री महाबीर जी ने अब दुराव व्यर्थ समझा। भक्तों से क्या दुराव। प्रभु के समाचार कह कर अपना नाम बताया। बड़ा हर्ष हुआ—

'सुनत जुगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुनग्राम ।'

सत्संग का प्रभाव दोनों ओर ही होता है। प्रभु के स्मरण ने दोनों भावुक हृदयों को प्रेम विभोर कर दिया।

'तात कबहुं मोहि जानि अनाथा।
करिहंहि कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तन कछु साधन नाहीं।
प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिनु हरि कृपा मिलहि नहिं सन्ता॥
जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा।
तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा॥'

विभीषण गद्गद् स्वर से कह रहे हैं मेरा तो प्रभु के सिवा कोई स्वामी नहीं। इस अनाथ पर क्या वे कभी कृपा करेंगे। मेरा शरीर राक्षस का तामसिक है, मन में भी उनके पद पंकजों में प्रेम नहीं। फिर भी अब तो विश्वास हो गया। क्यों कि 'महत्संगो दुर्लभो अगम्यो अमोघश्च' ऐसा भगवान नारद ने कहा है।'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव' तस्मिंस्तज्जनेभेदाभावात्'सो श्रीराघवेंद्र की कृपा का ही यह फल है कि आपने आग्रह पूर्वक पुकार कर मुझे दर्शन दिया। नहीं मैं तो भवन में सोया ही पड़ा रहता।'

'सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती।
करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥'

श्री हनुमान जी ने विभीषण के विश्वास का समर्थन कर दिया। केवल समर्थन ही नहीं, अपना दृष्टांत देकर पुष्टि भी। समय कम था, वे सीधे उद्देश पर आये।

'पुनि सब कथा बिभीषन कही।
जेहि बिधि जनक सुता तहँ रही॥

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
देखा चहौं जानकी माता॥
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई।
चलेउ पवन सुत बिदा कराई॥'

प्रभु के काम में सहायता पहुँचाना कर्तव्य हो गया था और जहाँ तक हो सकता था विभीषण ने अपने कर्तव्य का पालन किया।

× × ×

'जन रंजन भंजन खल ब्राता।
वेद धर्म रक्षक सुनु भ्राता॥
ताहि बयरु तजि नाइय माथा।
प्रनतारति भंजन रघुनाथा॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही।
भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥
सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा।
बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥
जासु नाम त्रय ताप नसावन।
सोइ प्रभु प्रकट समुझु जिय रावन॥
बार बार पद लागउँ, बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस॥

बिभीषण ने रावण की सभा में प्रथम उसे नीतिपूर्वक समझाया। फिर प्रभु के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया। यह वर्णन करते करते भावोद्रेक हो गया। वे उन महामहिम का गुणगान करने लगे। 'प्रभु भक्तों को आनन्द देने एवं दुष्टों के संहारार्थ एवं धर्म परित्राण के लिये अवतीर्ण हुये हैं। उनसे शत्रुता छोड़कर उन्हें प्रणाम करो। वे प्रणत के कष्ट के नाशक

हैं। उन अकारण स्नेही को सीता जी सौंप दो और उनका भजन करो।'

शंका कर सकता है रावण कि 'मैं तो उनके अवतार प्रयजनों में सबके विरुद्ध हूं। भक्तों को सताता हूँ। दुष्ट हूं ही वेद एवं धर्म का संहारक हूं। अतः तुम्हारे प्रभु मेरे लिये 'प्रणतारति भंजन' कैसे होंगे ?' बिभीषण का समाधान परिपूर्ण है 'प्रभु तो विश्व द्रोही का भी परित्याग शरणागत होने पर नहीं करते और करें भी कैसे ? उनका नाम ही तो 'त्रय ताप नसावन' है। वही प्रभु प्रत्यक्ष प्रकट हुये हैं। यहाँ 'रावन' सम्बोधन बतलाता है कि बिभीषण प्रभुके चिन्तन में ऐसे मग्न हो गये हैं कि 'रावन' उन्हें तुच्छ लगता है। वे आदर पूर्वक भी उसे नहीं पुकारते। 'बार बार पद लागउँ, विनय करउँ' भी उसी भावावेश में है। प्रभु के सम्मुख एक जीव को करने के लिये ही यह भाव भरा आग्रह है। महत्ता की दृष्टि से तो 'दससीस' बिना किसी आदर का सम्बोधन है।

× × ×

'चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।
करत मनोरथ बहु मन माँहीं ॥
देखिहौं जाइ चरन जल जाता।
अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥
जे पद परसि तरी रिषि नारी।
दंडक कानन पावन कारी ॥
जे पद जनक सुता उर लाये।
कपट कुरंग संग धरि धाये ॥
हर उर सर सरोज पद जेई।
अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई ॥

जिन पायन्ह के पादुकन्हि, भरत रहे मन लाइ ।
ते पद आजु बिलोकिहौं,इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥
एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा ।
आएउ सपदि सिन्धु एहि पारा ॥'

ये पंक्तियाँ आवृत्ति की अपेक्षा करती हैं, अर्थ की नहीं । आप भी मन ही मन इनकी आवृत्ति करें उन 'अरुन मृदुल' पाद पल्लवों को 'इन नयनन्हि' देखने की अभिलाषा जीवमें जागृत हो जाय तो फिर उसके कल्याण में कसर क्या रही । अनेक जन्मों के पुण्य प्रताप एवं प्रभु की कृपा से यह अन्तर में उठती है ।

'दूरहि ते देखे दोउ भ्राता ।
नयनानन्द दान के दाता ॥
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी ।
रहेउ ठिठुकि एक टक पल रोकी ॥'

प्रभु तो सदा ही आगे हाथ बढ़ाये उठाने को आतुर रहते हैं । उन्हें तो अपनाने में ही आनन्द आता है । जीव उन्हें पाना ही नहीं चाहता । विभीषण में उत्कट अभिलाषा उत्थित हुई और उनके सामने वह मूर्त रूप में उपस्थित हो गई । नेत्र सफल हो गये ।

'नयन नीर पुलकित अति गाता ।
मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥
नाथ दसानन कर मैं भ्राता ।
निसिचर बंस जनम सुरत्राता ॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा ।
यथा उलूकहिं तम पर नेहा ॥
स्रवन सुजस सुनि आएउँ,प्रभु भंजन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥'

मैं क्या कहूं। पता नहीं कब उन 'सरन सुखद' के श्रीचरणों पर 'त्राहि त्राहि' करते गिरने का सौभाग्य होगा। पता नहीं प्रभु की दृष्टि इस 'सहज पाप प्रिय' पर कब होगी।

× × ×

'अब पद देखि कुसल रघुराया।
जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥'

प्रभु ने कुशल पूछी। मर्यादा पुरुषोत्तम लौकिक शिष्टाचार का भंग कैसे कर सकते थे। भक्त की इससे बड़ी कुशल क्या होगी कि आराध्य उसे 'जानि जन' उस पर दया करें। साधारणत: तो घर द्वार, स्त्री-संपत्ति सब छूट गई। रावण के रहते घर जाना भी शक्य नहीं रहा ऐसे व्यक्ति की कुशल क्या ? किंतु भक्त तो इसी में कुशल देखता है ! 'अब पद देखि कुशल' अब तक कुशल नहीं थी। अब श्री चरणों के दर्शन हो गये तो कुशल ही कुशल है।

'सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी।
नहि अघात स्रवनामृत जानी॥
पद अंबुज गहि बारहिं बारा।
हृदय समात न प्रेम अपारा॥
सुनहु देव सचराचर स्वामी।
प्रनतपाल उर अन्तर जामी॥
उर कछु प्रथम बासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
अब कृपालु निज भगति पावनी।
देहु सदा सिव मन भावनी॥
एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा'

उस श्रवणामृत से तृप्ति हो जाय ऐसा वह है ही नहीं
हाथ से वे 'अरुन मृदुल' चरण भी नहीं छूटते। नहीं
सिंधुजा से। वे अनादि काल से उन चरणों को अप
करों से लालती हैं, फिर भी छोड़ने की इच्छा नहीं होती
षण से सहज वे कैसे छोड़े जा सकते थे। भक्त के ह
दुराव को स्थान नहीं। भाव एवं दुराव एक साथ
सकते। 'उर कछु प्रथम बासना रही' विभीषण कह
मैं श्री चरणों में सर्वथा निःस्वार्थ नहीं उपस्थित हुआ
तो 'कुछ वासना' लेकर ही था। लेकिन अब तो
पदाब्जों की प्रीति में वह बह गई।

वह वासना भले बह गई हो, एक अब भी है। उसे छो
जा सकता। 'निज भगति पावनी' अभी भी चाहिये। विभी
जी, वह तो आपके पास पहिले से है। उसका स्वभाव है कि
जिसके पास होती है, उसे पता नहीं होता। वह है ही 'प्रति क्षणं
वर्धमाना' लेकिन सरकार 'एवमस्तु' कहेंगे। उन्हें 'ना' कहना या
हीला हवाली करना नहीं आता।

\+ \+ \+

'रावन रथी बिरथ रघुबीरा।
देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा।
बंदि चरन कह सहित सनेहा॥
नाथ न रथ नहि तनु पदत्राना।
केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥'

प्रेम में आशंका स्वाभाविक है। प्रेमी की दृष्टि में कैसा भी सबल प्रेमास्पद हो दुर्बल ही रहता है। वह अनेक प्रकार की आपत्तियों की कल्पना करके उनसे प्रेमास्पद के बचाव लिये चिन्तित

लोक विजयी रावण अस्त्र शस्त्र सुसज्जित कवच पहिने
है और प्रभु नंगे पैर,नंगे शरीर भूमिपर खड़े सामना
हे हैं। प्रेमाधिक्यने विभीषण को आकुल-कर दिया।
को रोक नहीं सके। अपना सन्देह उन्होंने प्रभु पर
र ही दिया।

ि प्रभु बचन विभषन, हरषि गहे पद कंज।
मिस मोहि उपदेसेउ, राम कृपा सुख पुंज॥'

ानते थे कि विभीषण का प्रेमाग्रह तुष्ट किये बिना
रने से वे बहुत मानसिक कष्ट पावेंगे। अतः उन्हें
क रथका स्वरूप समझाया। गद्गद् हो गये विभीषण।
ो ये गुण स्वभाव सिद्ध हैं। मुझे वे लंकेश कहते हैं,
इसी बहाने उन्होंने उपदेश दिया कि मुझ में कौन से गुण
ाने चाहिये।'

\+ \+ \+

'देखि विभीषण प्रभु स्रम पायो।
गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायो।
रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे।
तैं सुरनर मुनि नाग विरुद्धे॥
सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाये।
एक एक के कोटिन्ह पाये॥
तेहि कारन खल अब लगि बांचो।
अब तव काल सीस पर नाच्यो॥
राम बिमुख सठ चहसि संपदा।
अस कहि हनेसि मांझ उर गदा॥
उरमांझ गदा प्रहार घोर कठोर लागत महि पर्‌यो॥
दस बदन सोनित स्रवस पुनि संभारि धायो रिस भर्‌यो॥

द्वौ भिरे अतिबल मल्लजुद्ध बिरुद्ध एक एकहि हनै ॥
रघुबीर बल दर्पित बिभीषनु घालि नहिं ता कहुं गनै ॥
उमा। विभीषनु रावनहि, सनमुख चितउ कि काउ ।
सो अब भिरत काल ज्यों, श्री रघुबीर प्रभाउ ॥
देखा श्रमित विभीषनु भारी ।
धायउ हनूमान गिरि-धारी ॥'

अपने ही लिये प्रभु को आघात खाकर मूर्छित होते देख विभीषण आपे से बाहर होगये। जब कोई प्राण पर खेल जाता है तो वह दस गुने पर भी बीस पड़ता है। यहां तो अपने प्राणों से भी प्रिय आराध्य पर चोट पड़ी थी। रावण भी इस समय विभीषण के असह्य तेज को सह नहीं सका। विभीषण तो चोट की चिन्ता तब करें जब शरीर में हों। उनके मानस में तो प्रभु की मूर्छा ने ज्वार भर दिया था। उन्हें प्रहारकरना ही सूझ रहा था ।

अन्ततः। रावण विश्व विजयी योधा था और विभीषण एक शान्त भजन निष्ट नागरिक। उन्हें कभी युद्ध करना नहीं पड़ा था। बहुत ही थक गये। दूर से श्री बजरङ्ग बली ने इसे लक्षित कर लिया और एक पहाड़ लेकर दौड़े।

'गएउ विभीषन जहँ जनत्राता ॥'

इधर हनुमान जी ने रावण को सम्हाला और विभीषण को प्रभु की स्मृति हुई। वे तुरंत उनके पास पहुंचे। यह देखना था कि शक्ति का आघात कहीं अधिक तो नहीं लगा है।

\+ \+ \+

'रुदन करत देखी सब नारी।
गएउ विभीषन मन दुख भारी ॥
बंधु दसा बिलोकि दुख कीन्हा।
तब प्रभु अनुजहि आयसु दीन्हा ॥

लछिमन तेहि बहुबिधि समुझायो।
बहुरि बिभीषन प्रभु पहिं आयो ॥
कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका।
करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी।
विधिवत देस काल जिय जानी॥'

जिन्हें आज तक राजमहलों से निकलने का अवसर नहीं पड़ा था, वे लोक विजयी दशानन की पत्नियां घोर युद्धभूमि में पछाड़ खाकर विलाप करने लगी थीं। विभीषण का भावुक हृदय चीत्कार कर उठा। वे उनके पास पहुँचे। अन्ततः उनकी इस दशा में विभीषण का भी तो हाथ था।

शत्रुता जीवन के साथ समाप्त हो जाती है। विभीषण के सम्मुख आज उनका विश्व विजयी बड़ा भाई छिन्न मस्तक भूमि में पड़ा था। उनका हृदय भावों से उद्वेलित हो गया। वे वहीं भूमि पर बैठ गये और रुदन करने लगे।

प्रभु ने देखा कि विभीषण भावनावश दुखी हो रहे हैं। स्वयं जाना उचित नहीं था। रावण की मृत्यु का दुःख था उसके बन्धु को और प्रभु के हाथों वह मारा गया था। प्रभु को देखकर और अधिक दुख हो सकता था। छोटे भाई को भेज दिया। लक्ष्मणलाल ने बहुत अच्छी तरह विभीषण को समझा कर शान्त किया। फिर साथ लेकर प्रभु के पास आये।

मृत शत्रु तो सज्जनों के लिये आदरणीय हुआ करता है। प्रभु ने विभीषण को आज्ञा दी और विधि पूर्वक रावण की अन्तेष्टि करने को कहा। विभीषण ने देश, काल समझकर सविधि प्रेत-क्रिया सम्पन्न की।

कपिपति नील रीछपति, अंगद नल हनुमान।
सहित बिभीषन अपर जे, जूथप कपि बलवान ॥
कहि न सकहिं कछु प्रेमबस, भरि भरि लोचन बारि।
सनमुख चितवहिं राम तन, नयन निमेष निवारि ॥

प्रभु श्री अवध जाना चाहते हैं। पुष्पक सजा हुआ सन्मुख प्रस्तुत है। समस्त बानरों एवं रीछों की सेना विदा की जा चुकी है। वे विचारे सैनिक—वे समझते थे कि हमारा आग्रह कुछ अर्थ नहीं रखता। प्रभु को संकोच में भी नहीं डालना था। मन मारे चुपचाप चले गये।

बड़े बड़े यूथप रह गये थे। चले वे भी जाते, किन्तु अपनी महान उदारता से राघवेन्द्र ने उन्हें सखा सचिव तक कहा था। वे बहुत निकट हो गये थे। तब क्या वे अयोध्या तक जाकर राज्याभिषेक नहीं देख पावेंगे। कुछ कहने का साहस उनमें नहीं था। अश्रु भरे नेत्रों से एक टक श्रीमुख को देख रहे थे।

विभीषण पहिले ही प्रभु से प्रार्थना कर चुके थे 'पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय।' प्रभु ने अभी इसका उत्तर दिया नहीं था। लेकिन वे सब से अधिक क्यों चाहें? सब के साथ वे भी मौन खड़े थे और उस कमल मुख को निर्निमेख देख रहे थे। प्रभु कुछ कहें—यही प्रतीक्षा हृदय में आकुलता से व्याप्त थी।

लंकापति

विश्व नियन्ता जिसे जो बना दें, वस्तुत: वही उसका स्वरूप है। सांस्कारिक उपाधियां तो उपाधियां ही हैं। वे आज हैं और कल नहीं। उनका होना न होना एक समान है। व्यर्थ ही मानव उनके पीछे भागता है।

'कहु लंकेस सहित परिवारा।
कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥'

प्रभु ने विभीषण को देखते ही 'लंकेस' कहा। वे विश्वात्मा जिसे जो बना दें, वही ठीक। रावण ने तो लंकेश की उपाधि बलात् पाई है। वह इसे रख नहीं सकता। जीव की कृति स्थायी नहीं होती। विभीषण जगदीश्वर के द्वारा लंकेश पुकारे गये। वही वास्तविक लंकापति हैं। प्रलयान्त तक उनसे यह उपाधि छीन सके, ऐसी शक्ति किसी में नहीं। वे विश्वनियन्ता के द्वारा लंकेश बनाये गये हैं, अतएव जब तक लंका का सृष्टि में अस्तित्व रहेगा, वे लंकापति भी बने रहेंगे।

'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे।
ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे ॥

कहीं आप भ्रम में न पड़ जावें कि पहिली बार प्रभु ने 'लंकेस' कहकर सकुटुम्ब रावण का कुशल पूछा था। वे मर्यादा पुरुषोत्तम अनधिकारी को पद कभी नहीं देते। शासक गुणवान होना चाहिए। 'सकल गुन' देखकर ही प्रभु ने विभीषण को लंकेश कहना उचित समझा है।

'एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। मांगा तुरत सिंधुकर नीरा ॥

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
अस कहि रामतिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा॥

रावण क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड॥
जरत विभीषन राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड॥
जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दसमाथ॥
सो संपदा विभीषनहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥'

विभीषण ने स्पष्ट कह दिया 'मुझमें पहिले तो कुछ वासना थी, किन्तु अब नहीं रही। अब तो केवल आप अपनी भक्ति दें।' प्रभु ने 'एवमस्तु कह दिया। साथ ही उन्होंने देखा कि प्रकारान्तर से विभीषण ने उनके 'लंकेस' को अस्वीकार कर दिया है। मौखिक सम्बोधन संशयास्पद ही रहेगा। प्रभु ने पक्का करने का निश्चय किया। 'मम दरसन अमोघ' कहकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि 'तुम्हारी इच्छा न होने पर भी यह तो होकर रहेगा।' विभीषण के पास कोई उत्तर नहीं था।

कहां तो विभीषण रावण के क्रोध के भय से अपने ही निःश्वासों में दग्ध हो रहे थे, कहां उन्हें लंका का वह साम्राज्य प्राप्त होगया जिसे रावन ने भगवान शंकर को अपने मस्तक चढ़ाकर प्राप्त किया था। प्रभु ने वह साम्राज्य भी बड़े संकोच से दिया। उस दान में भी कोई आभार प्रदर्शन नहीं था।

राज्याभिषेक के लिये तीर्थों का जल चाहिये। सभी पवित्र नदियां सागर में मिलती हैं। समुद्र स्वयं सर्वतीर्थ स्वरूप हैं। प्रभु ने उसी सागर नीर से विभीषण का अभिषेक कर दिया। 'मिला जाय जब अनुज तुम्हारा। जातहिं राम तिलक तेहि सारा॥'

लंका के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कोई भ्रम शेष नहीं था। रावण के दूतों ने भरी सभा में उससे कह दिया था कि

श्रीराघवेन्द्र ने पहुँचते ही विभीषण को राजतिलक कर दिया है। सम्पूर्ण लंकावासी जान गये थे कि प्रभु की ओर से विभीषण लंकेश्वर घोषित हो चुके।

× × ×

'आइ। बिभीषन पुनि सिर नायो ।
कृपासिन्धु तब अनुज बोलायो ॥
तुम्ह कपीस अंगद नल नीला ।
जामवंत मारुति नय सीला ॥
सब मिलि जाहु बिभीषन साथा ।
सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा ॥
पिता बचन मैं नगर न आवौं ।
आपु सरिस कपिअनुज पठावौं ॥
तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना ।
कीन्ही जाइ तिलक की रचना ॥
सादर सिंघासन बैठारी ।
तिलक साजि अस्तुति अनुसारी ॥
जोरि पानि सबहीं सिर नाये ।
सहित बिभीषन प्रभु पहिं आये ॥'

रावण की अन्त्येष्टि से निवृत्त होकर विभीषण ने श्रीचरणों में मस्तक झुकाया। श्रीरघुनाथ ने उनका अभिषेक कर दिया था, किन्तु वह आपद्धर्म के अनुसार समुद्रतट पर हुआ था। लंका के सिंहासन पर बैठाकर उसे सांगपूर्ण करना अवशेष था। प्रभु ने छोटे भाई, सुग्रीव, अंगद, नल, नील, जाम्बवन्त तथा हनुमान जी को बुलाकर लंका में राज्यसिंहासन पर बैठाकर विभीषण को अभिषिक्त करनेका आदेश दिया।

प्रभु ने कहा 'विभीषन, तुम और कुछ न समझना। मैं स्वयं तुम्हारा अभिषेक करता और कर चुका हूँ, किन्तु पिता की आज्ञा के कारण मैं नगर में नहीं जासकता। मुझे बनवास मिला है। अतएव मैं छोटे भाई एवं इन कपीश प्रभृतिको भेजरहा हूँ, जो मुझसे अभिन्न हैं।

प्रभु की आज्ञा का पालन हुआ। विभीषण लंका के सिंहासन पर अभिषिक्त किये गये। उनकी प्रथम स्तुति तथा प्रथमाभिवंदन मर्यादानुसार श्रीरामानुज सहित कपीश्वरों ने किया। लोकपालों द्वारा वन्दित रावण भी इस सम्मान का स्वप्न तक नहीं देख सकता था।

'किय सुखी कही बानी सुधासम, बल तुम्हारे रिपु हयो।
पायो बिभीषण राजु तिहुँपुर, जस तुम्हारो नित नयो॥
मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी, परम प्रीति जे गाइहैं।
संसार सिंधु अपार पार, प्रयास बिनु नर पाइहैं॥'

प्रभो, आपका तो स्वभाव ही अकारण कृपालु है। यदि आपने विभीषण की राज्यप्राप्ति तथा रिपुनाश का श्रेय कपिकुल को दिया तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन अपने बचनों का स्मरण रखकर इस अधमका ध्यान रखें। वह टूटी भाषा में अटपट ढंग से आपके साथ आप के जनों का गुण-गान ही तो करने चला है।

'अविचल राजु विभीषण पायो।
सुनि कपि बचन हरष उर छायो॥'

विभीषण का यह राज्य कुछ वर्षों का नहीं। यह विश्वेश दिया है। हनुमानजी ने जगज्जननी के समक्ष स्पष्ट कर दिया है कि 'वह अविचल' प्रभु ने सदा को दिया है। योग माया को

सृष्टि पर्यन्त उसकी रक्षा करनी चाहिये।' जिसे श्री रामानुज ने प्रथमाभिवादन दिया, उसे वंदन का लोभ अपने से संवरण होने से रहा, किन्तु अकेले नहीं—गोस्वामी जी के साथ समस्त प्रभु सेवकों को वंदन करूँगा—

'कपिपति रीछ निसाचर राजा।
अंगदादि जे कीस समाजा॥
रघुपति चरन उपासक जेते।
खग मृग सुरनर असुर समेते॥
बन्दौ पद सरोज सब केरे।
जे बिनु काम राम के चेरे॥

सचिव

मंत्री का पद अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। किसी ऐसे वैसे को मंत्री नहीं बनाया जासकता। मंत्री न केवल अपनी योग्यताका प्रतीक है अपितु वह उसकी योग्यता का भी प्रतीक है, जिसने उसे यह पद दिया है। जब मर्यादा पुरुषोत्तम ने विभीषण को यह पद दिया, तो यह मानना पड़ेगा कि वे आदर्श मन्त्री हैं।

'सुनु कपीस लंकापति बीरा।
केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा॥'

प्रभु ने सुग्रीव को प्रथम सचिव पद दिया था। अतः उन्होंने प्रथम उन्हीं का नाम लिया। 'कपीस' अभी अभी विभीषण के सम्बन्ध में सम्मति देकर लज्जित हो चुके थे। उनकी सम्मति 'राखिय बांधि' का स्वयं मीठे ढंग से श्री रघुनाथ को प्रतिवाद करना पड़ा था। अतः इस बार वे मौन ही रहे। विभीषण ने खुलकर सम्मति दी और छोटे भाई के विरोध करने पर भी राघव ने उसका आदर किया।

'सचिव सभीत विभीषन जाके।
बिजय बिभूति कहां लगि ताके॥'

दशानन को दूत के द्वारा यह सम्वाद मिल गया कि विभीषण ने लंकापति के साथ श्री राघवेन्द्र के सचिव का गौरव पूर्ण पद भी प्राप्त कर लिया है। उसने केवल 'सभीत' कहकर उपहास किया। इस पद के योग्य जो योग्यता चाहिये, उसके सम्बन्ध में वह भी विभीषण पर आक्षेप न कर सका।

देखु बिभीषन दच्छिन आसा । घन घमंड दामिनी प्रकासा ॥
मधुर मधुर गरजै घन घोरा । होइ बृष्टि जनु उपल कठोरा ॥'

उस सर्वज्ञने जब लौकिक नाट्य लिया है तो वैसा स्वांग करना भी ठीक ही है । मंत्री से कहते हैं 'घोर उपल वृष्टि होने के लक्षण दक्षिण में दिखाई पड़ रहे हैं।' सीधा मतलब है 'हम सब सारी सेना के साथ पर्वत की खुली चोटी पर पड़े हैं । बचने का कोई साधन है क्या ? गुफा से तो काम तब चले जब वह सब के प्रवेश करने योग्य हो । अब रक्षा का उपाय क्या किया जावे ?'

'कहत बिभीषन सुनहु कृपाला । होइ न तड़ित न बारिद माला ॥
लंका सिखर उपर आगारा । तंह दसकंधर देख अखारा ॥
छत्र मेघडंबर सिरधारी । सोइ जनु जलद घटा अति कारी ॥
मंदोदरी स्रवन ताटका । सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका ॥
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा । सोइ रव मधुर सुनहु सुर भूपा ॥

विभीषण ने बतलाया 'प्रभो' चिन्ता का कोई विषय नहीं । यह मेघ या बिजली है ही नहीं । दशानन गिरिशिखर पर अखाड़े में बैठा सपत्नीक मल्ल युद्ध देख रहा है । उसी की प्रतिच्छाया ऐसा आभास उत्पन्न करती है ।'

इस प्रकार विभीषण केवल राक्षसों का भेद मात्र ही नहीं देते रहे । वे उन निशाचरों के आत्यन्तिक हितकारी तथा प्रभु के जनोद्धार कार्य में भी सहायक रहे ।

'कहइ विभीषन तिन्हके नामा । देहिं राम तिन्हहू निज धामा ॥'

अंगद एवं पवनकुमार गढ़ द्वार तोड़कर लंका में कूद पड़े । रक्षित सेना की खबर ली जाने लगी । छोटे मोटे को तो वे दल मल कर फेंक देते । उनका उद्धार उन महाभागवतों के द्वारा मरण से ही हो जाता था । जो बड़े बड़े अगड़धत्त मिल जाते थे उन सेनानायकों का पैर पकड़कर दम से फेंक देते थे ।

ऐसे महानायक पटापट प्रभु के सामने अंटाचित पड़ रहे थे। विभीषण उनका नाम प्रभु को बतलाते और उन दयामय की दया दृष्टि का पासपोर्ट सीधा उन्हें 'रामधाम' के लिये प्राप्त होता था।

'नाथ भूधराकार सरीरा। कुम्भकरन आवत रनधीरा॥'

छोटे मोटे की चिन्ता कौन करे, लेकिन आज तो सचल हिमालय आरहा है। विभीषण ने पहिले से सावधान किया। बुद्धिमान सचिव स्वामी के हाथ से समय नहीं जाने देते। 'नाथ' पर्वताकार कुंम्भकर्ण आरहा है। वह केवल विशालकाय ही नहीं, रणधीर भी गजब का है। सीधा भाव है 'आप स्वयं सावधान रहें कुम्भकर्ण के सम्मुख रीछ-वंदर बहुत छोटे हैं। वह रणधीर इनके द्वारा कदापि पराजित न होगा। छोटे-मोटे अस्त्र या पर्वत से उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा। वह स्वयं 'भूधराकार' है। कपियों के आघात से वह विचलित नहीं किया जासकता। 'रणधीर' है वह।'

'सुनु सुग्रीव बिभीषन, अनुज सँभारेहु सैन।
मैं देखौं खल बल दलहिं, बोले राजिव नैन॥'

अन्तत: वही हुआ जो विभीषण ने सोचा था। कुम्भकर्ण ने बन्दर भालुओं को व्यथित कर दिया। वे प्राण लेकर भागने को विवश होगये। प्रभु को स्वयं उसके लिये धनुष सम्भालना पड़ा।

'पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन।
सरनि मारि कीन्हेसि जर्जरतन॥'

विभीषण केवल मुख की मदद करने वाले मंत्री न थे। प्रभु को उनके रण कौशल पर उतना ही विश्वास था, जितना सुग्रीव पर। स्वयं आगे बढ़ते समय श्री रघुनाथ उन्हें विशेष सैन्य संचालकों में नियुक्त कर जाते थे और मेघनाद भी उन्हें

प्रधान समझकर अनाहत या सशक्त छोड़ना निरापद नहीं समझता था।

'इहां बिभीषन मंत्र बिचारा।
सुनहु नाथ बल अतुल उदारा॥
मेघनाद मख करै अपावन।
खल मायावी देव-सतावन॥
जौं प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि।
नाथ बेगि पुनि जीति न जाइहि॥

संग्राम में शत्रु की गति विधि का पता रखना अत्यन्त आवश्यक कार्य है। आधा संग्राम गुप्तचर जीतते हैं, यदि यह कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। यह विभाग अत्यंत पटु एवं विश्वस्त व्यक्ति को दिया जाता है। हम देखते हैं कि लंका के युद्ध में शत्रु की गुप्त हलचलों पर दृष्टि रखने का कार्य विभीषण पर रहा है और श्री रामभद्र के गुप्तचर-विभाग के प्रधान की दृष्टि से वे भली प्रकार सफल हुये हैं। मेघनाद अत्यंत गुप्तरीति से निकुम्भिला मंदिर में यज्ञ करने चला गया था। रावण तक को उसने समाचार नहीं दिया। फिर भी विभीषण ने उसका पता प्राप्त कर लिया।

एक प्रधान योधा अकारण जब रणक्षेत्र से अनुपस्थित रहे तो कोई महान भेद होना ही चाहिये। मेघनाद की प्रातः युद्ध में अनुपस्थिति ने विभीषण के कान खड़े कर दिये। वे जानते थे उसके स्वभाव को। उनका अनुमान कितना सत्य निकला, यह मानस के पाठकों को बताना नहीं होगा।

'जामवंत सुग्रीव बिभीषन।
सेन समेत रहेहु तीनिउ जन॥

लंका में प्रवेश करना था रामानुज को। मार्ग केवल हनुमान जी जानते थे। वह भी निकुम्भिला मंदिर को जानते थे या नहीं, संदिग्ध है। रीछराज एवं कपिराज अंग-रक्षक तथा विभीषण मार्ग-प्रदर्शक ठीक रहेंगे। तीनों महाभट हैं। इसीसे उन्हें सैन्य के साथ रहने का आदेश मिला है।

'इहां विभीषण सब सुधि पाई।
सपदि जाइ रघुपतिहिं सुनाई॥
नाथ करै रावन एक जागा।
सिद्ध भये नहि मरिहि अभागा॥
पठवहु नाथ बेगि भट बंदर।
करहि बिधंस आव दसकंधर॥'

मेघनाद के यज्ञ के सम्बन्ध में तो कहा जा सकता था कि वह प्रातः युद्ध में नहीं आया, इसी से विभीषण ने अनुमान लगा लिया कि 'वह अपने स्वभावानुसार यज्ञ करता होगा।' यों केवल अनुमान पर श्रीरामानुज को लंका में ले जाना उचित नहीं था और बिना पूरा पता पाये विभीषण ऐसा कभी न करते। फिर रावण के यज्ञ के विषय में तो इस अनुमान को भी स्थान नहीं। रावण ने युद्ध भूमि से जाकर रात्रि में ही यज्ञारम्भ किया और तत्काल विभीषण ने प्रभु को सूचित किया। क्योंकि 'प्रात होत प्रभु सुभट पठाये' आगे स्पष्ट कहता है कि संवाद रात को मिला था।

'सब सुधि पाई' में स्पष्ट कहा जा रहा है कि विभीषण ने कोई अनुमान नहीं किया। उनको समाचार मिला। इसका यह अर्थ है कि लंका तथा रावण के अन्तःपुरतक के गुप्त से गुप्त समाचारों को प्राप्त करते रहने का उन्होंने व्यवस्थित प्रबन्ध कर रखा था। उनकी यही व्यस्था काम कर रही थी।

'सपदि जाइ' में एक और भी ध्वनि है। साधारण वर्णन लंकाकाण्ड का बतलाता है कि विभीषण सदा प्रभु के समीप ही रहते थे। इस समय 'जाइ' का अर्थ हुआ कि वे कहीं अन्यत्र थे। गुप्त सम्वाद वे प्रभु के पास नहीं प्राप्त करते थे। किसी अत्यन्त गुप्त निश्चित स्थान पर उन्हें लंका के गुप्त समाचार प्राप्त होते थे। रावण के यज्ञ का समाचार भी वहीं मिला होगा। वहां से तुरन्त जाकर उन्होंने प्रभु को सुनाया।

क्षेपकों तथा दूसरी रामायणों में नारान्तक की कथा है। श्री महाबीर जी लंगूर का दुर्ग सेना के चारों ओर बनाकर द्वार पर बैठे थे। अतः वह विभीषण के वेष में हनुमान जी के पास से रात्रि में शिविर में गया। यह कथा भी बतलाती है कि एकाकी विभीषण लङ्का के समाचार लेने रात्रि में शिविर से बाहर अज्ञात रूप में आते जाते थे। इसी से नारान्तक का छल चल गया। पवन कुमार को सन्देह नहीं हुआ।

"मरइ न रिपु स्रम भयउ बिसेखा।
राम बिभीषन तन तब देखा॥"

बार बार सिर और भुजायें काटीं, परन्तु वे फिर उग आते थे। प्रभुको बहुत देर लगी। श्रम भी पर्याप्त हो गया। उन्होंने विभीषण की ओर देखा। अर्थात् संकेत से पूछा 'मन्त्रिवर, अब क्या करें?'

"सुनु सर्वग्य चराचर नायक।
प्रनत पाल सुरमुनि सुखदायक॥
नाभिकुंड पीयूष बस याके।
नाथ जिअत रावन बल ताके॥
सुनत बिभीषन बचन कृपाला।
हरषि गहे कर बान कराला॥"

विभीषण तो रावण यज्ञ का संवाद देते हुये ऊपर ही कह चुके हैं 'नहिं मरिहि अभागा' अर्थात् 'यह रावण का अभाग्य होगा यदि वह आपके हाथों न मरे।' उन्होंने तो नाम गिना गिनाकर राक्षस नायकों को राम-धाम भिजवाया है। रावण जो उनका ज्येष्ठ भ्राता है, उसका परम कल्याण वे क्यों न चाहेंगे।

'प्रभो, आप सर्वज्ञ हैं। आपसे कुछ छिपा नहीं। चराचर के स्वामी हैं। रावण आपके लिये कुछ भी नहीं है। उसका वध सरलता से आप कर सकते हैं। उसे आप छोड़ भी नहीं सकते, क्यों कि वह सुर-मुनि को त्रासदायी है और आप उन्हें सुख देने वाले हैं। इतने पर भी मुझसे सुनना है तो वही सही।' विभीषण ने रावण वध का उपाय बतला कर अपनी सचिवपद पर नियुक्ति को सांग सम्पूर्ण किया।

रावण की दृष्टि में

प्रत्येक व्यक्ति का एक दृष्टिकोण होता है। वह उसी से संसार को देखता है। साधु के लिये सभी में कुछ न कुछ साधुता दृष्टिगोचर होती है। दुष्ट समस्त विश्व को कुटिल देखता है। सभी का दृष्टिकोण उसके हृदय के अनुरूप ही होता है।

'सुनत दसानन उठा रिसाई ।
खल तोहि निकट मृत्यु अब आई ।।
जियसि सदा सठ मोर जिआवा ।
रिपुकरपच्छ सदा तोहि भावा ।।

अहंकारी रावण के लिये विभीषण अत्यन्त तुच्छ थे। उसे उन विनीत की विनय कायरता एवं भीरुता प्रतीत होती थी। विनय का पाठ उसने पढ़ा ही नहीं था। वह स्वयं दुष्ट था, अतः उसे सभी दुष्ट ही दिखाई पड़ते थे। मृत्यु निकट चलि आई' उसे लगता था कि विभीषण को मारना कोई चीज ही नहीं।

दुरात्मा अपने उपकार को छिपाया नहीं करते। वे उसे कई गुना बढ़ाकर कहा करते हैं और चाहते हैं कि उपकृत उनके उपकार का इतना आभार माने कि वह अपने को क्रीत दास न समझे। रावण की समझ से यदि वह लंका में विभीषण को स्थान देकर उनका भरण पोषण न करता तो सम्भवतः उनका जीवन ही कठिन हो जाता। यही गर्व वह प्रकट कर रहा है।

'जबहि बिभीषन प्रभु पहिं आये ।
पाछे रावन दूत पठाये ॥'

कलुषित हृदय दुर्बल होता है। वह जितना ही दुर्बल होता है, ऊपर से अपने को उतना ही सशक्त दिखाने का प्रयत्न करता है। दिखाने के आवेश में दशानन ने विभीषण को लात मार दी और राघव के पास जाने को भी कह दिया किन्तु उनके जाते ही वह भीतर सशंक हो उठा। दूत भेजकर गति विधिपर दृष्टि रखना उसे आवश्यक प्रतीत हुआ।

'पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी ।
जाहि मृत्यु आई अति नेरी ॥'

हृदय में व्याकुल है राक्षस राजा अपने तिरस्कृत भाई का समाचार जानने को। भय से ग्रस्त है वह। 'कहुखबरि' में वह पूछ भी उत्सुकता से रहा है;फिर भी उसे अपना बाह्य आडम्बर छोड़ना नहीं है। कौशल पूर्वक 'जाहि मृत्यु आई' कहकर वह विभीषण के प्रति उपेक्षा दिखा रहा है।

'तुम्ह सुग्रीव कूल द्रुम दोऊ ।
अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥'

हम पहले कह चुके हैं कि अविनीत नैकषेय विनय को कायरता समझता था। बड़ा भाई होने से उसे जो नम्र आदर विभीषण से मिला करता था, उसे उसने भीरुता समझा। यही बात वह अंगद से इस प्रकार कह रहा है, जैसे उसके अनुभव में भ्रान्ति शक्य ही नहीं।

'कहां बिभीषन भ्राता द्रोही ।
आजु सबहिं हठि मारौं ओही ॥'

दशानन के अनुरूप ही उसके पुत्र का सिंह गर्जन है। हम मेघनाद को दोष नहीं दे सकते। वह एक विश्व विख्यात शूर

तथा अपने पिता का सुपुत्र है। अपने वंशगत स्वाभाव से उसे देवशत्रुता एवं आसुर पक्षपात उपलब्ध हुआ है। पिता के प्रति अन्ध श्रद्धालु होने के कारण उसने सामान्य न्याय का विवेचन सीखा ही नहीं है। उसके लिये पिता का आचरण आलोच्य नहीं, सम्मान्य है। अतः वह पिता का समर्थकों का साथी है।

बिभीषण के प्रति मेघनाद का केवल एक अभियोग है 'भ्राता द्रोही'। यह अभियोग इस उबलते रोष का कारण इसलिये बन गया है कि बिभीषण ने भ्राता के रूप में मेघनाद के पिता का द्रोह किया है। यदि रावण मेघनाद का पिता न होता, संदेह ही है कि उसे बिभीषण पर इतना अधिक क्रोध आता और 'सबहिं हठि केवल 'ओही' मारने का दुराग्रह करता वह।

शुद्ध ज्ञानी

दृश्य जगत की वास्तविक सत्ता के सम्बन्ध में विकल्प सम्भव हैं, किन्तु उसके दृश्य स्वरूप के मिथ्यात्व में कोई विकल्प नहीं। जगत का कोई भी स्वरूप क्यों न हो, वह स्वरूप नहीं जो हमें दिखाई पड़ता है। इस दृश्यमान जगत से अहं 'त्व'' का सम्बन्ध स्थापित करके जीव मोहित हो रहा है। 'मैं अरु मोर, तोर तें' यही माया है। इसी के कारण जीव का बन्धन है। जगत में यह तादात्म्य अज्ञान के कारण ही है।

'जदपि मृषा छूटत कठिनई' यह अज्ञान ग्रन्थि सर्वथा मिथ्या है—उसकी कोई सत्ता नहीं। 'जदपि मृषा तिहुंकाल महँ' इस भ्रम की वास्तविक सत्ता कभी भी सम्भव नहीं। साथ ही भ्रम की कोई दवा नहीं। अज्ञान तो ज्ञान के द्वारा ही निवृत्त होता है। उसे दूर करने का दूसरा उपाय भी क्या ?

इस प्रकार जीव के अपने स्वरूप एवं विश्वात्मा के सम्बन्ध के ज्ञान को ही शुद्ध ज्ञान कहा जा सकता है। दृश्य जगत स्वत: अज्ञानजन्य प्रतीति है, अतएव सम्पूर्ण भौतिक ज्ञान उस अज्ञान का अंगमात्र है। उसके द्वारा शान्ति एवं आनन्द की उपलब्धि शक्य नहीं। क्योंकि इनका निवास सत्य में है—मिथ्या में नहीं !

'सत्यं ज्ञानमनन्तं' वे सौन्दर्यघन हैं। 'सोइ जानै जेहि देहु जनाई' बिना उनकी कृपा के कोई उन्हे जान नहीं सकता। 'यमेवेष वृणुते तेन लभ्य' वह जिसे स्वयं वरण करें, उसे ही उपलब्ध होते हैं। ऐसे ही भाग्यशालियों में बिभीषण हैं।

"काम क्रोध मदलोभ सब, नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि संत ॥"

विभीषण ने सामान्य ढंग से समझाया है। 'काम क्रोधस्तथा लोभ' इन्हीं को तो गीतावक्ता ने भी 'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं' कहा है। मद तो इनका अनुगामी है ही। इनसे बचो और यदि तर्क नहीं करना है तथा अनुगमन का सुलभ मार्ग लेना है तो 'भजहिं जेहि सन्त' उसका भजन करो। क्यों कि—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैकोऋषिर्यस्यवचः प्रमाणम्।
धर्मस्यतत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पंथा ॥"

तर्क का कोई स्थिर लक्ष्य नहीं। वेद वाक्य अनेक प्रकार के हैं। ऋषि भी एक नहीं कि उन्हीं की वाणी को प्रमाण मानले। धर्म का रहस्य छिपा हुआ है। अतएव जिस मार्ग से महापुरुष गये हैं, वही ठीक मार्ग है।

"तात राम नहिं नर भूपाला।
भुवनेस्वर कालहुँ कर काला ॥"

'यदि तुमने भगवान श्रीराम को राजा समझकर जीतने की आशा की हो तो तुम्हारा यह मिथ्या भ्रम है। वे त्रिलोकी नाथ हैं। काल के भी महाकाल हैं। वे मृत्यु का भी संहार करने में समर्थ हैं। उन्हे भला कोई कैसे जीत सकता है।"

"ब्रह्म अनामय अज भगवंता।
व्यापक अजित अनादि अनंता ॥"

काल का महाकाल तो एक व्यापक तत्व ही है। क्योंकि व्यक्ति तो कालाधीन ही रहेगा। इस शङ्का का उत्तर दिया जा रहा है 'वे व्यापक ही हैं। उन्हें कोई रोग नहीं सताता। वे जन्म नहीं लेते। वे समस्त ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। अजेय हैं वे। उनका न आदि है और न अन्त। वही ब्रह्म श्रीराम हैं।'

"गो-द्विज-धेनु देव हितकारी।
कृपा सिंधु मानुष तनु धारी॥
जन रंजन भंजन खल ब्राता।
बेद-धर्म-रच्छक सुनु भ्राता॥"

यह खूब रही। उस व्यापक अनादि अनन्त को क्षुद्र मानव बनने की आवश्यकता? इसका स्वयं समाधान किया गया 'वे व्यापक प्रभु इस सृष्टि काल में वेदवाणी, ब्राह्मण एवं गायों की भलाई चाहते हैं। उन पर कष्ट देखकर उन दयासागर ने मनुष्य शरीर धारण कर लिया है। भैया, इस रूप में वे भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने, दुष्टों का नाश करने तथा श्रुति एवं धर्म की रक्षा करने पधारे हैं।'

ताहि बयरु तजि नाइय माथा।
प्रनतारति भंजन रघुनाथा॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही।
भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥"

यदि ऐसा है तो रावण तो मर्यादा पुरुषोत्तम के लिये वध्य हुआ। फिर वह भजन करके क्या लाभ पावेगा। विभीषण इसी भय के प्रति आश्वासन देते हैं 'प्रभु तो प्रणत के क्लेश को नष्ट करने वाले हैं। वे अकारण स्नेही हैं। स्नेह के लिये कोई कारण उन्हें नहीं चाहिये। अतएव श्री जानकी जी को उन्हें सौंपकर शत्रुता समाप्त करदो। उन्हें प्रणाम करो और उन्हीं का भजन करो।'

"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा।
बिस्व द्रोह कृत अघ जेहिं लागा॥"

यह तो सर्व साधारण के लिये नियम है। रावण तो विशेष व्यक्ति है। वह सुर-मुनि त्रासक एवं स्वयं रघुनाथ का पत्नी-

हर्ता है। उसे क्या यह उदार सुविधा प्राप्त होगी ? विभीषण कहते हैं 'यह सब सोचो ही मत। तुम्हारी तो कोई बात ही नहीं, शरण में जाने पर तो विश्वद्रोह के पापी का भी प्रभु त्याग नहीं करते।'

"जासु नाम त्रय ताप नसावन।
सोइ प्रभु प्रकट समुझु जिय रावन ॥"

वे तो अपना लेंगे, लेकिन जब पाप किये हैं तो उनका फल तो भोगना ही होगा। विभीषण अभय देते है 'अरे ये वे सर्वेश प्रकट हैं, जिनका नाम ही त्रयताप नष्ट कर देता है। उन्हें पाकर फिर कष्ट कहाँ हो सकता है।'

'बार बार पद लागउं, बिनय करउं दससीस।
परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस ॥'

कोशलाधीशके भजन की एक ही शर्त है 'परिहरि मान मोह मद' और इसे ज्ञानिश्रेष्ठ विभीषण भली प्रकार जानते हैं। वे इस 'मान मोह मद को छुड़ाने तथा भजन का फल भली प्रकार जानते हैं। उन्हीं के भाव भरे शब्दों में सुनिये—

'तब लगि कुसल न जीव कहं, सपनेहु मन विश्राम।
जब लगि भजत न राम कहं, सोक धाम तजि काम ॥

तब लगि हृदय बसत खल नाना।
लोभ मोह मच्छर मद माना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा।
धरे चाप सायक कटि भाथा॥
ममता तरुन तमी अंधियारी।
राग-द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव मन माहीं।
जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥

अब मैं कुसल मिटे भयभारे।
देखि राम पद कमल तुम्हारे॥
तुम्ह कृपालु जापर अनुकूला।
ताहि न व्याप त्रिविध भव सूला॥
मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ।
सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥
जासु रूप मुनि ध्यान न आवा।
तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा॥
अहो भाग्य मम अमित अति, राम कृपा सुख पुंज।
देखेउं नयन बिरंचि सिव, सेब्य जुगल पद कंज॥

—:❀:—

प्रभु की कृपा

जो 'बिनु हेतु सनेही' हैं उनकी कृपा का पूछना भी क्या। उनकी कृपा वृष्टि अनवरत सम्पूर्ण प्राणियों पर हो रही है। इतना होने पर भी अपने भक्तों पर वे विशेष कृपा रखते हैं। 'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।' अतः ऐसे अनन्य भक्तों पर उनकी कृपा चमत्कार दिखा जाती है।

'जारा नगर निमिख एक माहीं।
एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥'

एक क्षण में सारी लंका जल गयी, सोने के सौध पिघल गये। पड़ोस के लगे मकान तक बचे नहीं। रह गया अकेला विभीषण का भवन। सर्वथा अछूता, उस अनन्त स्रष्टा की कृपा जो थी इस भवन पर।

\+ + +

रावण से तिरस्कृत विभीषण प्रभु की शरण में पहुंचे। असाधारण समय था। युद्ध के वातावरण में शत्रु के पक्ष के व्यक्ति पर सन्देह होना स्वाभविक है।

'कपिन बिभीषण आवत देखा।
जाना कोउ रिपु दूत बिसेखा॥
ताहि राखि कपीस पहिं आये।
समाचार सब ताहि सुनाये॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
आवा मिलन दसानन भाई॥

कह प्रभु सखा बूझिये काहा।
कहै कपीस सुनहु नर नाहा॥
जानि जाइ निसाचर माया।
काम रूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा॥'
राखिअ बांधि मोहि अस भावा॥'

सभी कार्य अनुशासन पूर्ण ढंग से ही हुये। विभीषण अपने को छिपाकर नहीं आये थे। इस कारण वे गुप्तचर समझे नहीं जासकते थे। गुप्तचरों का दण्ड तो कपि नाक कान के उस सफाये के रूप में देते थे, जिसका प्रारम्भ लक्ष्मण लाल ने दण्डकारण्य में सूर्पणखा से किया था। प्रत्यक्ष आने के कारण बन्दरों ने विभीषण को शत्रुदूत समझा। दूत किसी का हो, महत्व तो रखता ही है।

कपियों ने समाचार कपीश को दिया और उन्होंने श्री रघुनाथ को। प्रभु ने अपने सरल स्वभाव से पूछ लिया 'बूझिये काहा।' अन्ततः सुग्रीव राजा थे। उनके ऊपर उतरदायित्व आपड़ा था। मायावी राक्षस शत्रु थे। नीति की दृष्टि से उन्होंने सर्वथा पूर्ण उत्तर दिया।

'सखा नीति तुम नीकि बिचारी।
मम पन सरनागत भय हारी॥'

यह क्यों नहीं कहते सरकार कि विभीषण के भाव उन्हें उत्सुक कर रहे हैं। नीति की प्रशंसा तो करनी ही थी, फिर भी 'ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' कहने वाले विभीषण को अपनाने को उतने ही उत्सुक थे, जितने विभीषण उनके दर्शनार्थ।

'जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई।
मोरे सनमुख आव कि सोई ॥'

मर्यादा की रक्षा कह लीजिये इसे अन्यथा स्पष्ट तो कह दिया गया कि 'वह दुष्ट हृदय है नहीं दुष्ट हृदय मेरे सन्मुख आही नहीं सकता। जब वह मेरे सन्मुख आरहा है तो उसका हृदय सरल है।'

'भेद लेन पठवा दससीसा।
तबहुं न कछु भयहानि कपीसा ॥'

अन्ततः जब सुग्रीव से सलाह पूछी तो उसका आदर भी करना चाहिये। युद्ध कार्य में भावुकता की अपेक्षा वस्तु सत्य देखना तथा शंकाशील रहना उपयोगी है। सुग्रीव का समाधान कर दिया प्रभु ने।

जौं सभीत आवा सरनाइ।
रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥
उभय भांतिले आवहु, हँसि कह कृपानिकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले, अंगद हनू समेत॥

सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहां रघुपति करुनाकर॥'

पहिले से 'प्रान की नाई' रखने की प्रस्तुति होगई है। केवल सुग्रीव के सन्तोष एवं नीति की रक्षा के लिये 'उभय भांति' का एक पर्दा रखा गया है। श्री हनुमान जी तथा युवराज अंगद तो यही चाहते थे। वे आदर पूर्वक विभीषण को आगे करके उन कृपानिधान के समीप आने वाले ही ठहरे। सुग्रीव को चाहे विभीषण की वास्तविकता न ज्ञात हो, श्री आंजनेय तो उसे जानते ही थे। सम्भवतः उन्ही के मुख से सुनकर युवराज भी परिचित हो चुके थे।

'खल मंडली बसहु दिनराती।
सखा धरम निबहै केहि भांती॥
मैं जानौं तुम्हारि सब रीती।
अतिनय निपुन न भाव अनीती॥
बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥'

जैसे कोई सगा सम्बन्धी बहुत दिनों पर मिला हो और खूब घुल मिलकर कुशल क्षेम पूछ रहा हो। 'सुहृदं सर्व भूतानां' के लिये तो सभी जीव मात्र 'सखा' हैं। उनसे बढ़कर आत्मीय और कौन होगा। 'मैं जानौं' कहकर अपनी सर्वज्ञता का इतना स्पष्ट परिचय प्रभु ने कदाचित ही और किसीको दिया हो।

'अब पद देखि कुसल रघुराया।
जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥'

विभीषण और क्या कहें। वे इस अपार करुणामृत प्रवाह में निमग्न हो उठे हैं। 'जानि' जन का प्रत्यक्ष उन्हें अनुभव हो रहा है। 'आपने मुझे अपना समझा।' उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा।

'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।
धरौं देह नहिं आन निहोरे॥'

वह अपार दया सागर उमड़ता ही जारहा है मर्यादा पुरुषत्तम सदा अपने को कौशल किशोर बनाये रखने के प्रयत्न में रहे हैं। किसी ने उनके वास्तविक रूप को पहिचान भी लिया है तो आप प्रसंग को हंसकर टाल गये हैं। लेकिन विभीषण पर इतनी अपार कृपा है कि श्री मुख से 'धरौं देह' कहकर परिचय दे रहे तथा अवतार प्रयोजन समझा रहे हैं।

'पुनि दस कंठ क्रुद्ध होइ, छांड़ी सक्ति प्रचंड।
चली बिभीषण सनमुख, मनहु काल कर दंड॥'

रावण जानता था कि उसकी मृत्यु का रहस्य विभीषण को ही ज्ञात है। नहीं तो सिर एवं भुजायें तो काटने पर उगही रही हैं।' न रहेगा बांस, न बजेगी बांसरी' उसने घोरतर शक्ति प्रहार विभीषण को लक्ष्य करके किया।

'आवत देखि सक्ति अति घोरा।
प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत विभीषन पाछे मेला।
सनमुख राम सहेउ सो सेला॥'

प्रभु ने देखा कि शक्ति महाभयंकर है। वह व्यर्थ नहीं की जासकती। विभीषण को 'प्रान की नाईं' रखने की प्रतिज्ञा वे प्रथम ही कर चुके थे। झट से विभीषण को पीछे करके आप स्वयं आगे खड़े हो गये। अपने वक्ष पर वह आघात ले लिया।

'लागि सक्ति मुरछा कछु भई।
प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई॥'

शक्ति ऐसी वैसी नहीं थी। उसके आघात ने श्री राघवेन्द्र को भी थोड़ी देर के लिये मूर्छित कर दिया। कहीं वह विभीषण को लगी होती तो.........। लगे कैसे? माता के रहते कहीं बच्चे पर आंच आसकती है। उन दयामय के शरणागतों पर अमोघ प्रहार पड़ते ही नहीं। भले उनकी अमोघता की रक्षार्थ वह सर्व समर्थ उसे स्वयं अपने ऊपर ले लें। भक्त तो सदा निर्भय है।

+ + +

'तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि, निमिष कल्प सम जात ॥'

मर्यादा पुरुषोत्तम झूठ नहीं बोलते और वह भी 'सत्य बचन' कहकर। इसे शिष्टाचार कहनेवाले हृदय नहीं रखते। कौन दूसरा ऐसा भाग्यशाली हुआ है जिसके सर्वस्व को इस प्रकार स्वीकार करने की कृपा उन सर्वेशने की है।

'करेहु कलप भरि राजु तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं ॥'

विभीषण धन्य हैं आप। आपकी भक्ति ने मर्यादा पुरुषोत्तम को अपनी मर्यादा से सदा बाहर कर दिया है। वे भक्ति परवश भाव-विभोर अपने नर-नाट्यको भूल गये हैं। तुम्हारे सम्मुख वे सदा अपने अनावृत स्वरूप में ही रहे हैं। 'मोहि सुमिरेहु' का इतना स्पष्ट आदेश और 'मम धाम पाइहहु' का आशीर्वाद बिना मांगे ही तुम्हें प्राप्त होगया है।

'सुनत विभीषण बचन राम के। हरषि गहे पद कृपा धाम के ॥'

इतना हर्ष, इतना आह्लाद पाने का सौभाग्य किसे प्राप्त होता है। श्रीचरणों में मस्तक ही रखा जा सकता है उस समय। वाणी काम करे, ऐसी शक्ति उसमें हुआ नहीं करती।

'तुम्हरे बल मैं रावनु मारयो।
तिलक विभीषन कहँ पुनि सारयो ॥'

स्वयं सब। कुछ करके भी उसकी सफलता का श्रेय सेवकों को देना सदा से प्रभुका स्वभाव रहा है। विभीषण पर कृपा तो उन्होंने की; किन्तु उनके राज तिलक का श्रेय आप कपियों को देकर स्वयं उनके आभारी बन रहे हैं। 'को कृपालु रघुबीर सम।'

× × ×

'सुनु कपीस अङ्गद लंकेसा।
पावन पुरी रुचिर यह देसा॥'

प्रभुकी कृपा से किष्किन्धा एवं लङ्का के निवासी इन भाग्यशालियों को श्री अवध के दर्शन हुये। तीर्थ में स्नान दानादिका पूर्ण फल तब होता है, जब उस तीर्थ के माहात्म्य को जानकर ये पुण्यकर्म किये जावें। श्री अयोध्या का माहात्म्य बतलाने के लिये स्वयं सरकार ने यह कार्य किया। अपने जनों पर वे किस किस रूपमें कृपा नहीं करते।

श्री अयोध्या में आगये। 'मनोहर मनुज सरीरा' धर कर वहाँ का वैभव देखा। श्रीभरतलाल का प्रेम प्रवाह पूर्ण सम्मिलन देखा और महर्षि वशिष्ठ के चरणों में प्रणाम करके कृतार्थ हुये। प्रभु तो सदा से 'ये सब सखा' कहते आये हैं। श्री अवध धामने राम-सखा के रूप में स्वागत किया।

राज्याभिषेक की शोभा वर्णनातीत है। उस 'त्रिभुवन साईं' को सिंघासन पर' वह भी जनक सुता समेत' देखकर नेत्र सफल होगये। जीवन कृतकृत्य होगया। कहाँ प्राप्त होता यह सुख, यदि वे दयामय दया न करते।

'सब दिन रहत न एक समान' सुख के पश्चात् दुःख का क्रम लगा है। 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' सो इस संयोग में भी उस वियोग की विषम घड़ी आ ही पहुँची। प्रभु एक-एक कर सबको वस्त्राभूषणों से सज्जित करने लगे।

'प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराये।
लङ्कापति रघुपति मन भाये॥'

अपने पूज्य अग्रज का संकेत पाकर लक्ष्मण जी ने विभीषण को स्वयम् अपने हाथों वस्त्रालङ्कारों से आभूषित किया।

रामानुज ने अपनी कलामय मनोवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया। इतना आकर्षक वेश विभीषण का हो गया कि वह श्री रघुपति को बहुत पसन्द आया।

'करेहु कलप भरि राजु' का वरदान जो मिला था। प्रभुने दूर तक पहुँचाकर बिदा किया। आज भी विभीषण वह मूर्ति हृदय में रखे हुये लङ्का के राजा हैं। लङ्काके-सीलोन के नहीं।

उन परम भक्त लङ्कापति को इस शिशु का शत-शत प्रणाम।

मानस संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

श्री महेन्द्र पुस्तकमाला।

१—शबरी मंगल [पण्डित शम्भु प्रसाद बहुगुना एम० ए०] अप्राप्य ≡)
२— श्री रामचरितमानस में वीर रस [श्री शारदा प्रसाद जी] ।)
३—ध्यान के समय [एफ० जे० अलेकजण्डर] ॥≡)
४—शत्रुघ्नकुमार [श्री सुदर्शन सिंह जी] ।)
५—मानस प्रसङ्ग [पाँचों भाग] (मानस राजहंस श्री पं० विजयानन्द जी त्रिपाठी) २॥।)॥
६—श्री रामचरितमानस में माता सुमित्रा [श्री सुदर्शन सिंहजी] ≡॥)
७—समुझाई [मानस राजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी] ॥)
८—श्री रामचरितमानस में महाराज जनक [वेदान्तरत्न रामायण-भूषण श्री अवधकिशोरदासजी श्रीवैष्णव] ।)
९—भक्त शबरी [पं० भागवत द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य] ≡)॥
१०—श्री मानस पारायण पूजन विधि [वेदान्त-भूषण पं० श्री रामकुमारदास जी] ।=)
११—महासती अनसूया [पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'] ।)
१२—ब्रह्मर्षि वसिष्ठ [श्री सुदर्शन सिंह जी] ।)
१३—धर्मशीला कौशल्या [पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'] ।)
१४— स्नेहमयी कैकेई [पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'[।)
१५—तुलसी मुक्तावली प्रथम किरण [श्री शम्भु प्रसाद बहुगुना, एम ए० डिप० साइ०] ।॥)
१६—तुलसी मुक्तावली द्वितीय किरण [श्री शम्भु प्रसाद बहुगुना, एम ए० डिप० साई०] ।॥)
१७— मानस मूल [मानस राजहंस पं० श्री विजयानन्दजी त्रिपाठी] ॥)
१८—रामचरितमानस में श्री रामअवतार की सिद्धि और दिव्य झाँकी [कुमारी पुष्पलता वर्मा] ।)
१९—मानस-व्याकरण [श्री मानसराजहंस पं० विजयानन्द जी त्रिपाठी] २)

श्री मानस-रत्नावली ग्रंथमाला

१—श्री रामचरितमानस का ब्रह्मचर्य जीवन [श्री स्वामी सरूपानन्द जी] अप्राप्य ।–)

२—संगीत रामायण [द्वितीय संस्करण] =)

३—रामचरितमानस में श्री हनुमान जी [श्री जानकी राय 'जनक'] ।–)

४—रामवन [श्री सुदर्शन सिंह जी 'चक्र'] ।≡)

५—सार्थ श्री रामतारक प्रयोग विधि [महान्त श्री रामपदार्थ दास जी महाराज एवं वेदान्त-भूषण पं० श्री रामकुमार दास जी रामायणी] ।।)

६—कीर्तन मुक्तावली [पं० बाबूराम शर्मा] ।।)

श्री कौशलेन्द्र कथामाला

१—नव निर्झरिणी [नवधा भक्ति पर ६ कहानियाँ (श्री चक्र) ।–)

२—अष्टदल (कहानियाँ) (श्री चक्र) ।=)

३—नूतन नवरत्न (कहानियाँ) (श्री चक्र) ।=)

४—दिव्य दशमी (श्री चक्र) ।=)

५—मानस मन्दाकिनी प्रथम हिलोर (श्री चक्र) ।)।।

६— „ „ द्वितीय „ (श्री चक्र) ।–)

७— „ „ तृतीय „ (श्री चक्र) ।–)

श्री रामदास भक्तमाला

१—महाभागवत चरित (पहिला भाग) [महात्मा श्री बालकरामजी विनायक] १)

२—महाभागवत चरित (दूसरा भाग) [महात्मा श्री बालकरामजी विनायक] १)

पीयूष-प्रवाह

१—विश्व-साहित्य में रामचरितमानस (काव्य समीक्षा) [श्री राजबहादुर लमगोड़ा] १=)

१—श्री भगवन्नाम संकीर्तन (श्री सुदर्शन सिंह) –।।)